संवर्धिनी

वर्ष - 2018-19 विक्रम सम्वत् - 2075 अङ्क - 10

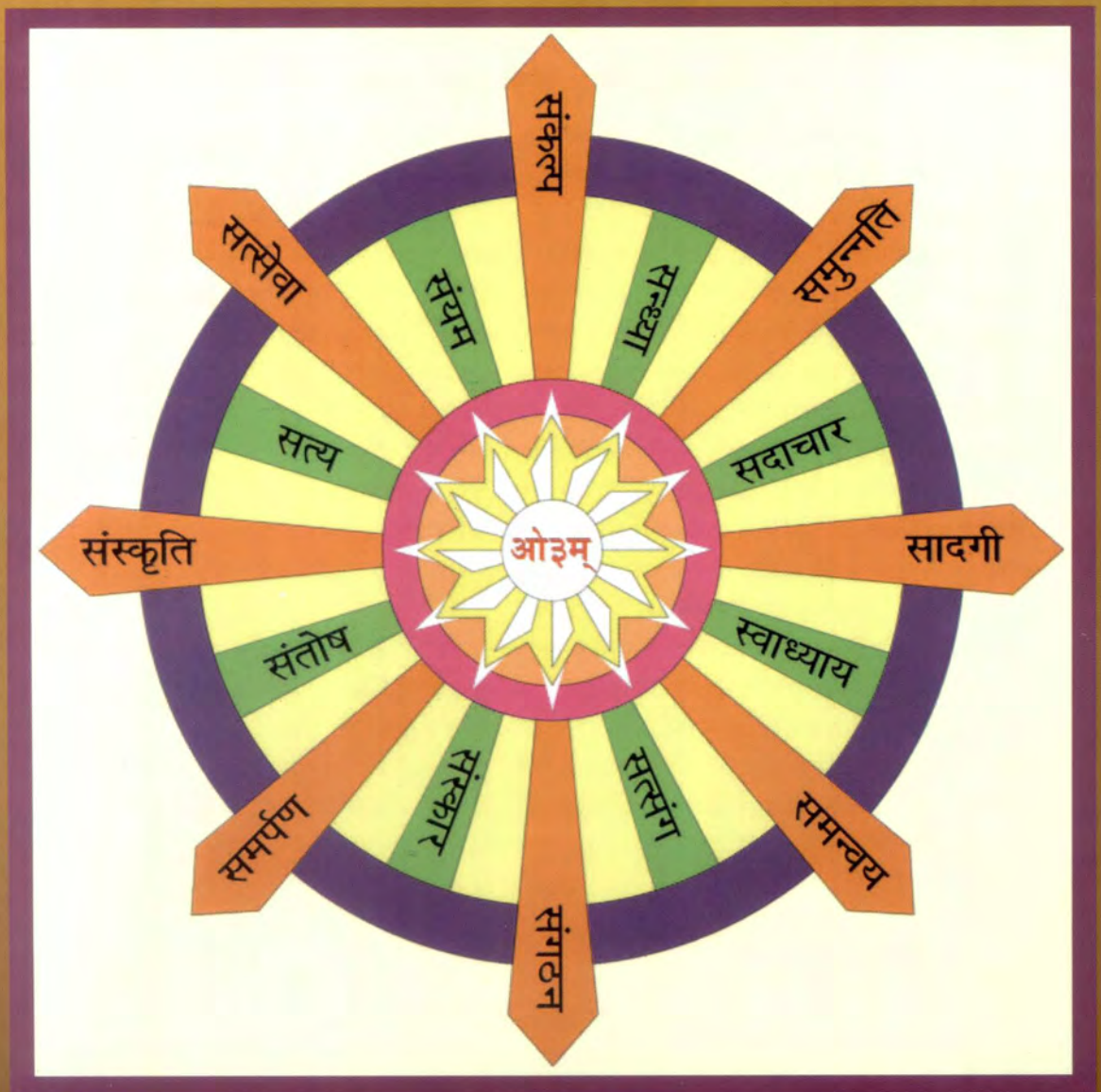

धर्म संवर्द्धिनी सभा द्वारा 'उपहार-संस्करण' के रूप में प्रकाशित ग्रन्थ

* बृहद् गृहस्थ दर्पण *

यह ग्रन्थ गृहस्थाश्रम को आनन्दधाम बनाने की विशिष्ट कुंजी है। इस ग्रन्थ में गृहस्थाश्रम के प्रवेश से लेकर मनोनुकूल सन्तान प्राप्ति एवं सम्पूर्ण संरक्षण तक का विशद् वर्णन किया है, इसलिये यह ग्रन्थ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वालों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यह ग्रन्थ किसी नवयुवक एवं नवयुवती के विवाह आदि के अवसर पर भेंट भी किया जा सकता है। इसका रोग-निवारण प्रकरण शरीर के अनेकों रोगों को दूर करने में विशेष लाभकारी है।

पृष्ठ-560 मूल्य-500 रु0

* शिक्षादान ही महादान *

यदि आप चाहते हैं कि हमारे देश का प्रत्येक बालक साक्षर बने, तो हमारे द्वारा चलाने वाले **'साक्षारता-अभियान'** में आप हमारा सहयोग अवश्य करें। आज शिक्षा का उद्योगीकरण हो गया है। जो व्यक्ति समर्थ हैं, वे अपने बच्चों को उच्च से उच्च शिक्षा दिलवाने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। पर हमारे देश में ऐसे भी अनेकों लोग हैं, जो धनाभाव के कारण अपने बच्चों को न तो शिक्षा दिलवा पाते हैं और न किसी प्रकार के अच्छा संस्कार। उनके बच्चे बाल-मजदूरी की चक्की में पिसने को मजबूर हैं।

हमारा विश्वास है कि यदि आप हमें अपनी कमाई में से कुछ भाग सहयोग-राशि के रूप में हमारे पास भेजने का प्रयत्न करें, तो हम कुछ बच्चों को अवश्य ही शिक्षित करने का प्रयास कर सकते हैं। जो बच्चे धनाभाव के कारण पढ़ नहीं पाते, उनके लिए यदि आपका आर्थिक सहयोग वार्षिक आहुति के रूप में मिलता रहे, तो हम अपनी योजना **"बाल चरित्र निर्माण योजना"** के अन्तर्गत उन्हें श्रेष्ठ गुरुकुलीय-शिक्षा दिलवाने का प्रयत्न अवश्य ही कर सकते हैं। इस कार्य में एक बच्चे की शिक्षा पर पुस्तक-कॉपी-वस्त्र के अतिरिक्त कम से कम **15,000 (पन्द्रह हजार) रुपये** का वार्षिक व्यय होता है।

आप यदि हमारे साथ इस ज्ञान-यज्ञ में अपनी भागीदारी निभाना चाहते हैं, तो आप **15,000 रुपये** की धनराशि नकद या **चैक/ड्राफ्ट** के रूप में **"बाल चरित्र निर्माण योजना"** के नाम से भेज सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो बच्चे एम.सी.डी के स्कूलों में अथवा प्राईवेट स्कूलों में पढ़ते हैं, यदि आप उनकी पढ़ाई के निमित्त कोई निश्चित मासिक अथवा वार्षिक राशि सहयोग के रूप में देना चाहते हैं, तो उस धनराशि को भी आप हमारी संस्था के पते पर भेज सकते हैं।

- निवेदक -

आचार्य श्याम देव (अधिष्ठाता - बाल चरित्र निर्माण योजना)

डब्ल्यू. जैड. - 869, नारायणा, नई दिल्ली-28, दूरभाष - 09811064932, 09350233885,

E-mail : balcharitranirmanyojna@gmail.com

ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

वर्ष - 2018-19 **विक्रम सम्वत् - 2075** **अङ्क - 10**

सम्पादक :-
आचार्य श्याम
दूरभाष - 09811064932, 09350233885

सह-सम्पादक :-
डा0 कर्णदेव शास्त्री
दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-
सतीश मेहता, सुनील कोहली,
कृष्णा झॉब, नीलम सूद, शकुन्तला आर्या

कार्यालय :-
धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)
जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28
दूरभाष - 0935073344, 09555534381

प्रधान कार्यालय :-
धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)
ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59
E-mail - samvardhini@yahoo.co.in
dharm.samvardhini@gmail.com
Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1. प्रभु-स्तवन पृष्ठ-2
2. सम्पादकीय पृष्ठ-3
3. वेदामृतम् पृष्ठ-5
4. मानव निर्माण का आधार - संस्कार पृष्ठ-19
5. प्रचलित न्याय के अर्थ पृष्ठ-22
6. जीवन का प्रमुख उद्देश्य "समुन्नति" पृष्ठ-23
7. वेदोद्धारक - "महर्षि दयानन्द" पृष्ठ-25
8. बुराई तथा भलाई किसे कहते हैं ? पृष्ठ-28
9. कौन कर्म अत्यावश्यक ? पृष्ठ-30
10. आर्य-संस्कृति में नारी का स्थान पृष्ठ-31
11. हाय ! तेरा लाल-ख़ून सफेद क्यों हुआ ? पृष्ठ-34
12. यह कठिन साधना है पृष्ठ-37
13. कर्मशील बनें और स्वस्थ रहें पृष्ठ-38
14. कभी हार नहीं होती (कविता) पृष्ठ-40
15. वैदिकसंस्कृति में जीवन का स्वरूप पृष्ठ-41
16. शान्ति का उपाय पृष्ठ-47
17. विद्यार्थी, स्मृति-वर्द्धन कैसे करें ? पृष्ठ-48

ओ३म्

प्रभु-स्तवन

यद॒ङ्ग दा॒शुषे॒ त्वमग्ने॑ भ॒द्रं क॑रि॒ष्यसि॑।
तवेत्तत् स॒त्यमङ्गिरः ॥

(ऋ0 1/1/6)

[मधुच्छन्दा ऋषि। अग्नि देवता। गायत्री छन्द। षड्ज स्वर]

मन के संशय छोड़ के सारे,
आया तेरे द्वार ईश्वर, आया तेरे द्वार ॥

ये धन अब तेरा ही धन है,
वन्दन ही मेरा जीवन है।
अर्पण है तेरे चरणों में, मेरा सब संसार ॥ 1 ॥

कैसी अद्‌भुत तेरी माया,
देने वालों ने ही पाया।
मेरी झोली एक है दाता, तेरे हाथ हज़ार ॥ 2 ॥

और सभी मतलब के पुतले,
करें अहित, सब हित के बदले।
तू ही केवल सच्चा दानी, दाता विपुल उदार ॥ 3 ॥

सम्पादकीय

वर्त्तमान में जिस प्रकार से देश की परिस्थितियां बन रही हैं, उनको देखकर देश-धर्म प्रेमी मनुष्य के मस्तिष्क में चिन्ता की लहरें उत्पन्न होने लगती हैं। उसकी बुद्धि में बार-बार एक विचार कौंधता है कि - मेरे देश का क्या होगा ? हमने तैमूर, बाबर, खिलजी, औरंगजेब जैसे आताताियों के आक्रमण और शासन को सहा, सैकड़ों वर्ष हम दासता की बेड़ियों में जकड़े रहे, उन दुर्दिनों को हटाने के लिए लाखों भारतीय संस्कृति के सपूतों ने अपने तन-मन-धन की आहुति देकर स्वराज्य की स्थापना की, परन्तु आज दुःख की बात यह है कि जिस स्वतन्त्रता को हमने इतने अधिक बलिदान दे करके प्राप्त किया, आज हम उसको सुरक्षित नहीं रख पा रहे। आज हमारी सीमाओं को पाकिस्तान-चीन जैसे पड़ौसियों द्वारा निरन्तर आतंक को पोषित कर अतिक्रमण किया जा रहा हो, हमारी सीमाओं में रोहिंग्या व बांग्लादेशी लोगों की घुसपैठ निरन्तर हो रही हो, दूसरी ओर हमारे देश में ही बैठे देशद्रोही दुरात्मायें अन्दर ही अन्दर घात करने का निरन्तर प्रयत्न कर समाज व राष्ट्र को तोड़ने के लिए प्रयत्नशील हों; क्या ऐसी विपरीत परिस्थितियों में प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य नहीं बनता कि वह भी इन विपरीत परिस्थियों के बारे में सोचे और उनका निराकरण करने के लिए कुछ प्रयत्न करे ? जिस देश में हिन्दुओं की जनसंख्या का ग्राफ घट रहा हो, और दूसरी ओर मुसलमानों की जनसंख्या का ग्राफ बढ़ रहा हो, क्या ऐसी परिस्थितियों को देखकर हम अनुमान नहीं लगा सकते कि हम पुनः गुलामी ही ओर बढ़ रहे हैं। उस गुलामी की ओर जिसे सुन व पढ़कर आज भी हमारे रोंगटे घड़े हो जाते हैं, जिसकी पाशविकता का नृत्य हमारे अन्दर कंपकपी पैदा कर देता है। ये विषय इतने अधिक गम्भीर हैं कि यदि तीक्ष्ण दृष्टि डालकर इनके निराकरण का शीघ्र प्रयास नहीं किया गया, तो हमारा भारत पुनः उन आताताियों के वश में होगा, और हम पुनः गुलामों की ज़िन्दगी जीने को मजबूर होंगे।

जब हमारी आंखों के सामने विपरीत परिस्थितियों का वातावरण प्रतिक्षण घना होता जा रहा हो, और उस समय भारतीय संस्कृति के रक्षण-पोषण की जिम्मेदारी जिनके ऊपर है, वह आर्य-हिन्दू जाति 'खाओ पीओ, मौज़ करो' के झूले में झूलकर अपने कर्त्तव्य से हीन हो गयी हो, तो उस जाति की रक्षा कौन करेगा ? कौन विपरीत परिस्थितियों के बादलों को नष्ट करेगा ? शास्त्रों में कहा गया है कि परमात्मा वा उसकी दैविक शक्तियां उन लोगों की सहायता करती हैं, जो पुरुषार्थी व कर्मशील होते हैं। जिस जाति के लोग समाज व राष्ट्र का चिन्तन करना ही छोड़ दें, तो ऐसे लोगों की परमात्मा भी रक्षा नहीं कर सकता। रक्षा उसकी की जाती है, जो स्वयं प्रयत्नशील हो, जिसे अपने कर्त्तव्य की पहचान हो, जो अपने

पुरुषार्थ का सदुपयोग कर रहा हो। जो आलसी निकम्मा होकर अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाये, और उसकी सोच यही हो कि कोई दूसरा व्यक्ति इस कार्य को करे और सुखद परिणाम मेरे पास आ जाये, ऐसे व्यक्ति की परमात्मा तो क्या, कोई सामान्य व्यक्ति भी सहायता नहीं करेगा।

इसलिये आर्यो ! अब भी समय है कि आप अपने कर्त्तव्य हो पहचानो, अपने मस्तिष्क में देश-धर्म-जाति के सम्मान को जीवित रखने वाले विचारों का आलोडन करो, फिर सोचो कि कितनी परिस्थितियां अनुकूल हैं और कितनी प्रतिकूल ? प्रतिकूल परिस्थितियों को हटाने के प्रति संकल्पवान् बन, स्वयं पुरुषार्थी देश-राष्ट्र भक्त बनो। उन लोगों के साथ अपने को जोड़ने का प्रयत्न करो, जो इन विपरीत परिस्थितियों को हटाने के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं। यदि आप ऐसे लोगों का सम्बल बनकर उनके साथ खड़े भी हो जाओगे, तो उन देशभक्त-धर्मभक्त लोगों का साहस बढ़ जायेगा, उनके कार्य करने की क्षमता दोगुनी हो जायेगी, और फिर वे देशसेवा के लिए और अधिक तन्मयता के साथ सेवा करते हुए अपने जीवन का बलिदान कर सकेंगे। आपका आलस्य, आपकी अनुदारता, आपका एकाकी चिन्तन, आपकी मौज करने की प्रवृत्ति उन कारणों को जन्म दे रही है, जो देश के शत्रुओं के लिए हितकारी हैं। वे शत्रु तो चाहते ही हैं कि आपकी सोच समाप्त हो जाय, आपका चिन्तन नष्ट हो जाय, आप भोगविलासी बनकर भोगों में फंसे रहें, और फिर वे आपको गुलाम बना सकें।

इसलिए जागो, अभी भी समय है स्वकर्त्तव्य निभाने का। उन लोगों का पोषण करो, जो देश-धर्म व संस्कृतिभक्त हैं। आपका उनके जुड़ने का अनुराग, उन्हें शक्ति प्रदान करेगा, और वे अहर्निश दुर्दिनों के बादलों को नष्ट करने में अपना सम्पूर्ण बलिदान कर देंगे। **"धर्म संवर्द्धिनी सभा"** के अधिकारियों एवं सदस्यों का मात्र उद्देश्य यही है कि हमारे देश के नागरिकों में वह चिन्तन उत्पन्न हो, जो राष्ट्रभक्ति का संवर्द्धन कर, स्व-धर्म के पालन की प्रेरणा देता हो, नई पीढ़ी को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता हो। इसके लिए सभा द्वारा साप्ताहिक-अर्द्धमासिक नैतिकशिक्षा की कक्षायें, संस्कृत-संस्कृति की रक्षा के लिए शीतकालीन व ग्रीष्मकालीन शिविर, पारिवारिक सत्सङ्ग, महापुरुषों के जन्मोत्सव पर विशिष्ट कार्यक्रमों का आयोजन करने का प्रयत्न किया जाता है।

हमारी सभा का उद्देश्य है - **"धर्म का संवर्द्धन करना"** वह चाहे मानवधर्म हो अथवा पारिवारिक-सामाजिक व राष्ट्रधर्म ? धर्म स्व-कर्त्तव्य के पालन करने का नाम है। जिसके साथ धर्म संयुक्त कर दिया जाता है, आप उसके प्रति कर्त्तव्य पालन की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। आपकी धर्म के प्रति सजगता सुन्दर-सुखद भविष्य का निर्माण करेगी, तथा उन लोगों का सम्बल बनेगी, तो इस कार्य में अहर्निश प्रयत्नशील हैं। इसलिए सभा आह्वान करती है कि आप तन-मन-धन की आहुति देकर उन महापुरुषों का सहयोग अवश्य करें, जो राष्ट्र का भविष्य संवारने के लिए सदैव प्रयत्नशील हैं। ❑

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः।
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रतिपश्येम सूर्यम्॥

(ऋग्० 10/37/7)

(अभितपाः सौर्यः ऋषिः। सूर्यः देवता। विराड् जगती छन्दः। निषादः स्वरः)

पदच्छेदः -

विश्वाहा। त्वा। सु-मनसः। सु-चक्षसः। प्रजावन्तः। अनमीवा। अनागसः। उद्यन्तम्। त्वा। मित्रमहः। दिवे-दिवे। ज्योग्-जीवाः। प्रति-पश्येम। सूर्यम्॥

शब्दार्थः -

(**विश्वाहा**) सदैव (**त्वा**) आपको (**सुमनसः**) पवित्र मन वाले बनकर (**सुचक्षसः**) उत्तम दृष्टि युक्त होकर (**प्रजावन्तः**) प्रजावान् बनकर अथवा प्रकृष्ट विचारों का संवर्द्धन कर (**अनमीवा**) रोगरहित (**अनागसः**) निष्पाप बनकर (**उद्यन्तम्**) उदित अथवा प्रकाशित होते हुए (**त्वा**) आपको (**मित्रमहः**) प्रियजनों में पूजनीय अथवा महान् (**दिवेदिवे**) दिन-प्रतिदिन (**ज्योग्जीवाः**) दीर्घायु युक्त होकर (**प्रतिपश्येम**) निरन्तर देखें (**सूर्यम्**) सूर्य को अथवा सर्वप्रकाशक परमात्मा को।

भावार्थः -

हे सर्वप्रकाशक परमात्मन्! हम आपको सदैव पवित्र मन व पवित्र दृष्टियुक्त विचारवान् होकर, जीवन को रोगरहित और पापरहित बना, दीर्घायु युक्त होकर सद्विचारों का संवर्द्धन करते हुए ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होकर स्नेहीजनों में सबसे महान् तथा परम पूजनीय पिता आपका दिन-प्रतिदिन निरन्तर दर्शन किया करूं।

व्याख्या : –

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'सूर्य' है, जो मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। प्रायः जब सूर्य शब्द हमारी दृष्टि में आता है, तो तुरन्त हमारी दृष्टि भौतिक–सूर्य की ओर पहुंच जाती है। क्या हमारा उसके बिना कार्य चल सकता है ? नहीं.. नहीं..। जब संसार के प्रत्येक कार्य में उस भौतिक–सूर्य का योगदान है, और उसके प्रकाश में हम समस्त जीवनोपयोगी कार्य निरन्तर करते हैं, जो हमारे सौरमण्डल का अधिपति है, जिसके प्रकाश व आकर्षण शक्ति से यह पृथिवी व चन्द्र का अस्तित्व विद्यमान् है, यदि सूर्य शब्द सुनते ही उस ओर हमारी दृष्टि सहजता से चली जाय, तो इसे स्वाभाविक वृत्ति की गति ही कहा जायेगा। परन्तु जब मन्त्र में जिन–जिन गुणात्मक शब्दों का वर्णन मनुष्य के लिए किया गया है, और उसमें स्पष्ट कहा गया है कि हम इन–इन गुणों वाले होकर सूर्य का दर्शन करें। तब स्वाभाविक रूप से मन में प्रश्न उठेगा कि इस भौतिक सूर्य के दर्शन करने के लिए मनुष्य को गुणवान् बनने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भौतिक सूर्य जड़ है, और जड़ पदार्थ के सामने गुणी–निर्गुणी, विद्वान्–अविद्वान् का कोई अस्तित्व नहीं। कारण, उसमें स्वयं न तो चेतना है, और न गुणों के पृथक्कीकरण करने की क्षमता है। अरे ! इस भौतिक सूर्य को तो मात्र मनुष्य ही दर्शन नहीं करता, वरन् कृमि–कीट–पतंगादि समस्त प्राणी दर्शन करते हैं, और उसके प्रकाश में अपने सब व्यवहारिक कार्य करते हैं। इसके दर्शन के लिए गुणवान् बनने की क्या आवश्यकता ? क्योंकि वह तो जड़ पदार्थ है, अग्नि का पिण्ड है, और पञ्च भौतिक तत्त्वों में से एक प्रमुख तत्त्व का प्रतिनिधि है। जब मन में विचार स्पष्ट हो जायेगा, और मन्त्र के शब्दों के आधार पर सूर्य शब्द की संगति लगाने का प्रयास किया जायेगा, तब यह सुनिश्चित होगा कि इस मन्त्र में सूर्य, भौतिक व जड़ सूर्य के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ, वरन् वह किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जब विचार हमारे मन में दृढ़ हो जाये, तो फिर हमें इस बात की खोज में भी निकलना पड़ेगा कि सूर्य शब्द के अन्य अर्थ क्या हैं। यह शब्द कहां–कहां और किस–किस रूप में प्रयुक्त होता है, जिससे सूर्य के वास्तविक अर्थ को जानकर मन्त्र के साथ हम उचित–विनियोग कर सकें।

वैदिक संस्कृत–व्याकरण के आधार पर 'सृ' धातु में 'क्यप्' प्रत्यय करके सूर्य शब्द की व्युत्पत्ति होती है। वैदिक संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थ 'निरुक्त' में सूर्य शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है –

"सरति आकाशे सूर्य, यद्वा सुवति कर्माणि लोकं प्रेरयति ॥"

अर्थात् – आकाश में जो चलता है, भ्रमण करता है, गति करता है, सरकता है, वह सूर्य है। अथवा जो कर्मों को करने की प्रेरणा देता है, वह सूर्य है।

संस्कृत व्याकरण में एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है– "उणादिकोष"। इस ग्रन्थ में कुछ विशिष्ट शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है। उसी उणादिकोष में 'सूर्य' शब्द की परिभाषा निम्न प्रकार से है –

"सूयते वा सुवति प्राणिनः सामर्थ्यतीति सूरः सूर्यो वा ॥"

अर्थात् - जो सब प्राणियों को 'सूयते' उत्पन्न करता है, अथवा जिसमें 'सुवति' प्रेरणा देने का सामर्थ्य विद्यमान् है, वह सूर्य है।

प्रस्तुत दोनों परिभाषाओं में सूर्य शब्द की सङ्गति भौतिक सूर्य के साथ लगाकर यह कहा जा सकता है कि जो आकाश में गति कर रहा है अथवा मनुष्यों को कर्म करने की प्रेरणा दे रहा है, वह सूर्य है। हम भी इस अर्थ को अस्वीकार नहीं करते; क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब सूर्य उदित होता है, तो मनुष्य निद्रा को त्यागकर अपने जीवनोपयोगी कार्यों में संलग्न हो जाता है। पर कल्पना कीजिये कि यदि कोई मनुष्य सूर्य निकलने के बाद भी सोता रहे, कार्य में संलग्न न हो, जैसाकि वर्त्तमान पीढ़ी में यह अवगुण अधिकांशतः देखा जाता है, तो क्या यह भौतिक सूर्य आपको उठने की प्रेरणा चेतन-शक्ति के समान देगा ? अरे ! यह कर्मशील मनुष्य के कार्य में लक्षणाशक्ति द्वारा सहायक तो है, पर कर्म करने की पूर्णतः प्रेरणा देने का सामर्थ्य इसमें विद्यमान् नहीं है।

तब प्रश्न होगा कि फिर वह सूर्य और कौन-सा है ? इसका उत्तर वेद भगवान् के पास जाकर यदि कोई भक्त पूछने की कोशिश करेगा, तो फिर उसे उत्तर मिलेगा -

"सूर्य आत्मा जगतश्तस्थुषश्च स्वाहा"

अर्थात् - वह सूर्य की जड़ जगत् और चेतन जगत् की आत्मा है, अधिपति है, स्वामी है, मालिक है।

पर कौन-सा सूर्य ? उसके लिए मन्त्र का शेष भाग कहेगा -

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ (यजु0 7/42)

अर्थात् - जो चित्र-विचित्र कर्मों का करनेवाला है, जो अपने उपासक को उन्नति की ओर ले जाता है, जिसके सानिध्य को प्राप्त कर उपासक आत्मबल से युक्त हो जाता है, जो सबका मार्गदर्शक है, मानो सबकी वास्तविक आंख है, जिसका स्नेह पाने की सब उपासक जन कामना करते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ है, अर्थात् वरण करने योग्य है, जो ज्ञान-स्वरूप है, जो सबकी कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है, जिसके प्रकाश से द्यु-पृथिवी-अन्तरिक्ष-सूर्य आदि सब लोक प्रकाशित हो रहे हैं, जो जड़ जगत् और चेतन जगत् का स्वामी है, ऐसे उस परमेश्वर रूपी सूर्य का मैं अनुभव कर रहा हूं, और उसी की शरण को मैं प्राप्त करना चाहता हूं।

उपर्युक्त मन्त्र के आधार पर सबका प्रकाशक परमात्मा ही सूर्य है। हमें निरन्तर दिन-प्रतिदिन उसके दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि वही परमात्मा पूजनीय है, वही सबसे अधिक महान् है, और वही अपने स्नेह से हमारे जीवन का सिंचन एवं पोषण कर रहा है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने 'सत्यार्थ- प्रकाश' के प्रथम समुल्लास में **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** का भाव लिखते हुए लिखा है -

"इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जङ्गम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सबके आत्मा होने और स्वप्रकाशरूप सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम 'सूर्य' है।"

पञ्चमहायज्ञ विधि के सन्ध्या-प्रकरण में महर्षि लिखते हैं -

"स एव देवः सूर्यः (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य च (आत्मा) अवति नैरन्तेण सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा॥"

यहां पर भी महर्षि ने सूर्य शब्द का अर्थ स्वप्रकाशक पूजनीय परमात्मा किया है।

यजुर्वेद के 3/9 मन्त्र में सूर्य शब्द की व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं -

"यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानामपि ज्योतिः प्रकाशकः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति॥"

महर्षि ने यजुर्वेद भाष्य में 35/14 तथा 33/31 मन्त्रों में सूर्य शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है -

"सूर्यम् = चराचरात्मानं परमेश्वरम्॥"

अर्थात् - वह प्रकाशक परमात्मा ही सूर्य है, जो चर और अचर का स्वामी है।

अब प्रश्न होता है कि सूर्यों का सूर्य, प्रकाशकों का प्रकाशक, पूजनीयों का पूजनीय, सबसे महान् जो परमात्मा हमें निरन्तर अपनी प्रेममयी वृष्टि से सम्पूर्ण जगत् का धारण-पोषण कर सबका कल्याण कर रहा है, उस परमात्मा का हम कैसे दर्शन करें ? जब आप इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहेंगे, तब वेदमन्त्र जिन-जिन गुणों की चर्चा कर रहा है, आईये उन शब्दों पर थोड़ा-सा विचार कर लें। उस सौभाग्य के लिए जिन गुणों को जीवन में धारण करने की आवश्यकता है, वे निम्न हैं -

(1) सुमनसः - उपासक का मन सुन्दर हो, पवित्र हो, श्रेष्ठ भाव वाला हो। जब इस शब्द पर विचार कर हम अपने जीवन का निष्पक्षता से अवलोकन करते हुए यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि हमारा मन सु-मन है या नहीं, तो उत्तर मिलेगा - नहीं। जब हमारा मन सुमन ही नहीं, तो फिर यह भी स्पष्ट है कि हम अपने पिता के दर्शन से अवश्य ही वंचित रह जायेंगे। अरे ! संसार के लौकिक पिता को ही आप देख लें, यदि उसका एक पुत्र श्रेष्ठ विचारों वाला है और दूसरा पुत्र कुत्सित विचारों वाला, यदि वे दोनों अपने पिता की गोद में बैठने की इच्छा करें तो पिता अच्छे विचारों वाले पुत्र को अपनी गोद में बैठने की अथवा अपने गृह में प्रवेश करने की अनुमति देगा। हो सकता है कि वह अपनी निज वस्तुओं के प्रयोग की अनुमति भी दे दे। परन्तु जो बुरे विचारवाला है, उस पर पिता दृष्टि डालने की कोशिश भी न करेगा। जब लौकिक पिता को हम व्यवहार में देखते हैं कि उसका आकर्षण अच्छे पुत्र के प्रति है, तो क्या वह परमात्मा अपने श्रेष्ठ उपासक पर अपनी कृपा न करेगा ? अवश्य करेगा। यदि पिता की कृपा से कोई पुत्र वंचित रहेगा, तो वह स्वयं अपने अवगुणों के कारण। इससे यह स्पष्ट हुआ कि परमपिता परमात्मा का सानिध्य व दर्शन पाने के लिए प्रथम शर्त है कि उपासक को शुद्ध पवित्र मन वाला

बनना होगा। सिद्धान्त है कि जैसा हमारा मन होगा, वैसा हमारा विचार होगा, जैसा हमारा विचार होगा, वैसा हमारा कार्य होगा। इसलिये कहा भी है –

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति। यद् वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते ॥ (शतपथ)

अर्थात् – मनुष्य मन से जैसा ध्यान करता है, उसके विचार उसी प्रकार के हो जाते हैं। वाणी से भी उसी प्रकार के विचारों का प्रस्फुरण होता है, और फिर वह उसी के अनुसार सम्पूर्ण कर्म करता है।

अभिप्राय यह कि यदि मन में श्रेष्ठ विचार हैं, तो वह श्रेष्ठ कर्म करने को प्रेरित होगा, और अश्रेष्ठ हैं तो अश्रेष्ठ कर्म करने को। जबकि वेद भगवान् कहते हैं – **'सुमनसः'** जो सुन्दर पवित्र मन वाला है, वही जगत्पिता का दर्शन कर सकता है। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकला कि बिना मन को सुन्दर किये हमारी गति नहीं हो सकती। इसलिये सर्वप्रथम मनुष्य को तैयारी यह करनी चाहिये कि वह अपने मन को सुन्दर बनाये, स्वस्थ बनायें, पवित्र बनाये।

अब प्रश्न होता है कि मन को सबल, स्वस्थ, सुन्दर और पवित्र कैसे बनाया जाय ? उसके लिए शास्त्रों में कुछ निर्देश हैं। प्रथम यह कि मन चंचल न हो। क्योंकि चंचलता के दोष के कारण मन किसी अच्छे विचार में दृढ़ नहीं हो पाता। मन की चंचलता के दोष का प्रभाव मन के अभिन्न-मित्र बुद्धि पर भी पड़ता है, जिससे बुद्धि के निर्णय करने की क्षमता अस्थिर होती है। मन व बुद्धि के दोषों का प्रभाव फिर उनके आधिपत्य में रहनेवाली इन्द्रियरूपी प्रजा पर होता है, जिनके द्वारा मनुष्य श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ गुणों में संलग्न रहता है। परन्तु मनुष्य के सामने समस्या यह है कि इस मन की चंचलता को वह कैसे दूर करें ? उसके लिए शास्त्रकारों ने विभिन्न-विभिन्न प्रकार के साधनों का आलोडन कर, निष्कर्ष के रूप में दो ही प्रकार के साधनों पर विशेष बल दिया है, वह है – **अभ्यास** और **वैराग्य**।

वैराग्य का अभिप्राय घर-परिवार-संसार छोड़ना नहीं, बल्कि संसार की वास्तविकता को समझकर गुण-अवगुणों का पृथक्कीकरण कर, उनको स्पष्टतः समझना है। फिर उसमें बुद्धि का सामंजस्य करके नीर-क्षीर विवेकवत् श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ को समझना है। जब दोनों चीज़ों का पृथक्-पृथक् निर्णय हो जाये, तो जो अच्छा है उसको स्वीकार करने का नाम अभ्यास है, और जो अश्रेष्ठ है उसको छोड़ देने का नाम वैराग्य है। महर्षि पतंजलि जी ने भी जब अपने योगशास्त्र में मन के निरुद्ध करने का उपाय वर्णित किया है, तो वे **"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"** कहकर अभ्यास और वैराग्य को ही मन की निरुद्धता का साधन मानते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण जी भी अर्जुन की जिज्ञासा पर मन की चंचलता-चपलता-प्रबलता का जब उपाय वर्णित करते हैं, तो **"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"** कहकर अभ्यास और वैराग्य को ही मन की निरुद्धता का साधन मानते हैं। बात सत्य भी है, कोई कितना भी इसके अतिरिक्त उपाय बताने की, तंत्र-मंत्र से समझाने

की, ढ़ोंग-पाखण्ड करने की कोशिश करे, पर जो उपाय महर्षि पतंजलि तथा भगवान् श्रीकृष्ण ने बतलाये हैं, उससे श्रेष्ठ और उससे हितकर व सरल कुछ अन्य नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अन्यत्र भटकने के स्थान पर अभ्यास और वैराग्य का समुचित उपयोग कर मन की चंचलता के दोष को मिटाने की कोशिश करे। जैसे निर्वात स्थान में दीपक की लौ स्थिर हो जाती है, वा निर्वात स्थान पर जल की लहरें समाप्त हो जाती हैं, वैसे ही मन की चंचलता जब उपासक की समाप्त हो जाती है, तो उसकी दर्शन व कार्य करने की क्षमता बढ़ जाती है।

कभी आप कल्पना कीजिये कि आपका कोई पदार्थ किसी तालाब में गिर गया। यदि आप उस पदार्थ को ढूंढ़ना चाहते हैं, और यह जानना चाहते हैं कि वह कहां पर है, तो आप तालाब में उठने वाली जल की लहरों के वेग को रोकने का प्रयत्न कीजिये। जैसे ही जल में स्थिरता व ठहराव आ जायेगा, आपका तालाब में गिरा हुआ पदार्थ आसानी से दिखाई देने लगेगा। इसी प्रकार आप किसी शीसे में अपना चेहरा देखने के लिए खड़े हो जायें, और जिस शीसे में आप चेहरा देखने का प्रयत्न कर रहे हैं, वह शीसा यदि हिल रहा है तो आप अपना प्रतिविम्ब ठीक प्रकार से नहीं देख सकेंगे। इसके लिए आवश्यक है कि हिलते हुए शीसे को स्थिर किया जाय, तब आप अपने उद्योग में सफल हो सकेंगे। इसलिये शास्त्रकारों ने आत्मा-परमात्मा की सन्निकटता होते हुए भी दर्शन न होने के कारणों को मन-विक्षेप-आवरण नाम की संज्ञा दी है। जैसे चेहरा देखने वाले के सामने वाला शीसा स्थिर होना चाहिये, यह प्रथम शर्त है, तो दूसरी शर्त यह भी है कि वह शीसा मलरहित होना चाहिये, अन्यथा गन्दगी लगे शीसे में चेहरा देखना असम्भव होगा। पर ध्यान रहे कि शीसा साफ हो, स्थिर हो और शीसे और चेहरे के बीच में किसी प्रकार का आवरण वा पर्दा न हो, अन्यथा शीसे में चेहरा देखना असम्भव ही होगा। इसी प्रकार जिनका मन चंचल है, जिनका विषयों की गन्दगी से मन पूर्णतः दूषित है, जिन्होंने असत्य-छल, कपट-आडम्बर के आवरण से अपने मन को ढ़क रखा है, ऐसे लोगों के पास सर्वव्यापक परमपिता परमात्मा अपनी व्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता से कितना भी सन्निकटता के साथ क्यों न बैठा हो, पर यह आत्मा उस परमपिता परमात्मा का दर्शन नहीं कर सकता। इसलिये सर्वप्रथम आवश्यक कार्य यह है कि वैराग्य और अभ्यास के साधनों से मन को स्थिर किया जाय, जिससे उसमें अपने पिता के दर्शन करने की दृष्टि तीक्ष्ण हो सके।

दूसरी शर्त यह भी है कि मन अशक्त नहीं होना चाहिये। वैसे तो विद्वान् संत-महात्माओं का कथन है - **"मन के हारे हार है, मन के जीते जीत"**। यदि मन में सुदृढ़ता से भाव स्थिर हो जाये कि मैंने इस कार्य में विजय प्राप्त करनी है, तो मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है, इस सिद्धान्त को झुठलाया नहीं जा सकता। पर कभी आप विचार करें कि हम जिस वातावरण में रहते हैं, यदि वहां विषम और नकारात्मक वातावरण है, तो हमें मन को लक्ष्य

की ओर स्थिर करने में अवश्य ही असहजता अनुभव होगी। तब आपको यह मानना पड़ेगा कि मन का सामर्थ्य अति बलवान् होने के बाद भी यदि दूषित वातावरण का वेग उसकी शान्ति का प्रतिहनन कर रहा हो, तो भी आप उस मन के द्वारा लक्ष्य का दर्शन करने से वंचित रह जायेंगे। यहां इस बात को एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

महाभारत काल में अर्जुन और कर्ण के वीरत्त्व को कौन नहीं जानता ? इतिहासविदों की मान्यता है कि अर्जुन जैसा धनुर्धर यदि कोई उस काल में था, तो केवल कर्ण था। विद्वानों ने अर्जुन और कर्ण के वीरत्त्व का जब तुलनात्मक विवेचन किया है, तो उन्होंने अर्जुन की अपेक्षा कर्ण को अधिक श्रेष्ठ पाया है। उन विद्वानों का कथन है कि यदि भगवान् श्रीकृष्ण की युद्धनीति में साम-दाम-दण्ड-भेद का पाण्डवों के साथ सहयोग न होता, तो अर्जुन अपने प्रतिद्वन्द्वी कर्ण को कभी पराजित नहीं कर सकता था। हम यहां यह आंकलन नहीं करना चाहते कि अर्जुन श्रेष्ठ था या कर्ण, यहां हमारी दृष्टि उस स्थल पर है कि कौरवों की ओर के सेनापति आचार्य द्रोण का जब सिर काट दिया गया, तो कौरवों की ओर से दुर्योधन का अभिन्न मित्र कर्ण उस कौरवपक्ष का सेनापति बना। कर्ण की योग्यता और विश्वास पर दुर्योधन को किञ्चित् भी सन्देह नहीं था। दुर्योधन के मन में यह बात सुनिश्चित थी कि जिस पक्ष के साथ कर्ण जैसा योद्धा विद्यमान् हो, उसको कोई परास्त नहीं कर सकता। बात भी सत्य है कि पाण्डव पक्ष में अर्जुन का साथ देने वाले मात्र भगवान् श्रीकृष्ण हैं, परन्तु दुर्योधन के पक्ष में दादा भीष्म, आचार्य द्रोण, धनुर्धारी कर्ण जैसी प्रतिष्ठित विभूतियां हैं, जिनको परास्त करना सहज नहीं था। यदि पाण्डव पक्ष को भगवान् श्रीकृष्ण की नीति का सम्बल नहीं मिलता, तो यह निश्चित था कि पाण्डव कभी विजयी होने का स्वाद नहीं चख सकते थे। परन्तु यहां हम भगवान् श्रीकृष्ण की नीति से पृथक् एक ऐसे व्यक्ति की भूमिका की ओर भी हम आपका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक समझते हैं, जो कर्ण का सारथी है। वैसे कर्ण का सारथी **'शल्य'** रिश्ते में अर्जुन का मामा था, पर सेनापक्ष कौरवों की ओर जाने के कारण शल्य को कौरवपक्ष की ओर से सारथि का कर्त्तव्य निभाना पड़ा। आप शल्य की कर्त्तव्य निष्ठा पर सन्देह व्यक्त नहीं कर सकते, उसने उस युद्धस्थल में जिस प्रकार से अच्छे सारथि को सहयोग देना चाहिये, उस भूमिका का उसने पूर्ण निष्ठा के साथ पालन किया। यदि शल्य की योग्यता-निष्ठा पर दुर्योधन को किञ्चित् भी सन्देह होता, तो दुर्योधन शल्य के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति की सारथि के रूप में नियुक्ति कर सकता था। परन्तु शल्य निष्पक्षता के साथ अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा था।

हम यहां जिस बिन्दु की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाह रहे हैं, वह यह कि कर्ण कौरवपक्ष की ओर से सेनापति बना और अपने रथ पर बैठा, तो शल्य ने जिन मार्मिक वचनों को कर्ण के सामने कहा, आप जरा उस बात के प्रभाव की ओर थोड़ी-सी दृष्टि डालें।

कर्ण के रथ पर बैठते ही शल्य बोला - कर्ण ! क्या तुम उस अर्जुन से युद्ध कर पाओगे, जिसने दादा भीष्मपितामह जैसे सेनापति को 9 दिन तक टक्कर देने के बाद दशवें दिन शरशैया पर सुला दिया। कर्ण तुम उस अर्जुन को कैसे पराजित करोगे, जिसके समक्ष आचार्य द्रोण जैसा प्रतिष्ठित गुरु अस्त्र छोड़कर युद्धक्षेत्र में ही युद्ध से विमुख होकर बैठ गया हो। मुझे सन्देह है कि तुम उस अर्जुन को पराजित नहीं कर सकते ? इतिहास साक्षी है कि शल्य के इन वचनों का प्रभाव कर्ण के ऊपर इस प्रकार से पड़ा कि वह अर्जुन से अधिक श्रेष्ठ धनुर्धारी वीर होने के बाद भी स्वयं उसके मन में सन्देह का बीज ऐसा घर कर गया, और उसको स्वयं की योग्यता पर भी अविश्वास होने लगा।

हमारा मात्र कहना यही है कि मन कितना भी शक्ति-सामर्थ्यवान् क्यों न हो, पर यदि नकारात्मक भाव वाले लोगों का सानिध्य आपको निरन्तर प्राप्त होता रहेगा, तो आप जिस पिता के दर्शन पाने की अभिलाषा मन में संजोए हुए हैं, अशक्त मन से उसमें सन्देह कहीं न कहीं अपना स्थान बना लेगा और आपके मन में यह अवधारणा निश्चित हो जायेगी, कि पता नहीं मुझे परमात्मा के दर्शन हो पायेंगे या नहीं। मन में भ्रान्ति व सन्देह मन की शक्ति को कमजोर करता है, उसे अशक्त बनाता है, असामर्थ्यवान् बनाता है। ऐसे अशक्त व बुझे हुए मन वाले के सामने यदि पिता दर्शन देने के लिए आगे खड़ा भी हो जाय, तो भी उसकी गर्दन ऊपर नहीं उठ पायेगी, न वह ऊपर को अपनी दृष्टि कर पायेगा। इसके लिए आवश्यक है कि मन को उस वातावरण का खाद-पानी दिया जाय, जिसके पिता के दर्शन पाने की अभिलाषा पिपासु की भांति तीव्र हो उठे।

प्रभु के दर्शन पाने के लिए मन का साफ होना भी अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि विषयों की पंक मन को अपवित्र बना देती है। अतः मन की पवित्रता को धारण करने के लिए मनु ने जिस साधन की खोज की है, वह है - **सत्य**। इसलिये वे अपने धर्मशास्त्र में लिखते हैं - **"मनः सत्येन शुध्यति"** अर्थात् मन की शुद्धि सत्य द्वारा की जा सकती है। सत्य का अभिप्राय है कि जो वस्तु जैसी है, उसको वैसा का वैसा देखना और उसके जो उचित-अनुचित परिणाम हैं, उनका अनुभव करना। जैसे मेरे मन में विचार आया कि मुझे भोगों को भोगना चाहिये, क्योंकि यदि मेरे अन्दर उस विषय को भोगने का सामर्थ्य है और मेरा भोगने का अधिकार भी है, तो मुझे उसे भोग लेना चाहिये। परन्तु उपासक सत्य रूपी साबुन से मन को जब शुद्ध करेगा, तब फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि मनुष्य जो भी भोग भोगता है, उससे वह सुख की प्राप्त करना चाहता है। अब ये सांसारिक विषय मुझे सुख देंगे वा नहीं ? जब इस पर विचार होगा तो उत्तर आयेगा कि भोग भोगने वाले को क्षणिक सुख तो मिलता है, पर परिणाम में उसे दुःख ही प्राप्त होता है। जिस सन्तान को भोग भोगकर हमने प्राप्त किया और सोचा कि वह हमारी सहायक बनेगी, सुख का कारण बनेगी, जब उसी सन्तान के कर्मों का निरीक्षण-परीक्षण किया जाता है, तो प्रतीत होता है कि जो

निस्सन्तान हैं, शायद हमसे वह अच्छे हैं। इस प्रकार संसार के प्रत्येक विषय पर दृष्टि डाली जाय, तो निष्कर्ष के रूप में यह बात निकलकर आयेगी कि संसार के विषय कुछ क्षण का सुख तो दे सकते हैं, पर वह सुख नहीं दे सकते, जो समाप्त न हो। जब उस सुख को प्राप्त करने की खोज की जायेगी, तो उसे प्रतीत होगा कि परमात्मा का सानिध्य, उसकी गोद में बैठने को जो सुख व आनन्द है, वह तो संसार के सुखों में है ही नहीं। जब इस सत्य को मनुष्य जान लेगा तब वह भोगों से विरक्त होकर अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति को अपने पिता की ओर उन्मुख करेगा, जो आनन्द का भण्डार है। इसीलिये वेद भगवान् कहते हैं कि यदि तुम अपने पिता के दर्शन पाने की अभिलाषा रखते हो, तो प्रथम शर्त यह है कि मन को सुमन बनाओ, श्रेष्ठ बनाओ, सुन्दर पुष्प की भांति रसयुक्त पराग और सद्गुणों की सुगन्ध से पूरित बनाओ। आपका यह प्रयास वह आकर्षण उत्पन्न करेगा कि पिता स्वयं अपनी दोनों भुजायें फैलाकर अपने पुत्र का आलिंगन करने को, चूमने को उत्सुक हो जायेगा, पर उस आकर्षण के लिए उपासक को 'सुमनसः' सुन्दर मन वाला अवश्य बनना होगा।

(2) सुचक्षसः - सुचक्षसः शब्द का अर्थ है - पवित्र दृष्टिवाला। अर्थात् ईक्षण-परीक्षण के कार्य को करनेवाला। प्रायः सामान्य जन चक्षुओं का अर्थ मात्र आंख से लेते हैं, परन्तु इस मन्त्र में आंख समस्त ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है। वह मानो ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व कर रहा है। आंख, कान, नाक, वाक् और त्वक्, जिनके द्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, प्रभु के दर्शन पाने की इच्छा करने वाले साधक को इन इन्द्रियों का भी इस प्रकार से ईक्षण-परीक्षण करना चाहिये, जिससे इन इन्द्रियों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों में पवित्रता हो। हमारी आंखें अच्छा देखें, हमारे कान अच्छा सुनें, हमारी घ्राण व श्वॉस-प्रश्वॉस का कार्य करने वाली नासिका श्रेष्ठ प्राणतत्त्व को ग्रहणकर हमें स्वस्थ बनावे, हमारी रसना पवित्र पदार्थों को ग्रहण करनेवाली और कल्याणकारी प्रिय वचनों को बोलने वाली हो, और हमारी त्वक् शक्ति पवित्र होकर श्रेष्ठ वस्तुओं के संस्पर्शन का कार्य करे, जिससे हमारे शरीर का संवेदन-तन्त्र भी जाग्रत और पवित्र हो।

चक्षु शब्द का अर्थ जहां आंख माना जाता है, वहां ईक्षण भी उसका अर्थ होता है। वैसे ईक्षण शब्द का अर्थ देखना या अनुभव करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पर सामान्य रूप से हिन्दी व संस्कृत भाषा का ज्ञान रखने वाले लोग ईक्षण शब्द का प्रयोग बहुत कम करते हैं। अध्यात्म के ग्रन्थों में ईक्षण शब्द परमात्मा के साथ प्रयुक्त होता हुआ परिलक्षित होता है, परन्तु इसी ईक्षण शब्द में **निः** तथा **परि** उपसर्ग जब लगा दिया जाता है, तब शब्द बनता है - निरीक्षण और परीक्षण। प्रायः इन दोनों शब्दों का प्रयोग हम जन सामान्य में देख सकते हैं। जैसे ईक्षण शब्द का अर्थ देखना है, वैसे ही निरीक्षण शब्द का अर्थ निश्चित रूप से देखना है। परन्तु जब उस ईक्षण शब्द में परि उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है, तो परीक्षण शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है -

सब ओर से देखना, सब प्रकार से ज्ञान का अनुभव करना। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उपासक को इतना अपने-आप में सजग होना चाहिये कि उसकी प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय जब भी जिस-जिस कार्य में प्रवृत्त हो, उस कार्य में हर प्रकार से निरीक्षण-परीक्षण कर, यह अनुभव अवश्य करे कि यह कार्य मेरे लिए उचित होगा वा नहीं। यदि उचित है तो उसको स्वीकार किया जाय और अनुचित है तो उसको अस्वीकार किया जाय।

कल्पना कीजिये कि आंख का कार्य देखना है, परन्तु उस कार्य में पवित्रता होगी तो आंख कल्याणकारी दृश्यों को देखकर उन दृश्यों को ज्ञान तन्त्रिकाओं के माध्यम से अन्तःप्रविष्ट करायेगी, जिससे कि मानसिक-बौद्धिक व्यापार कल्याणमय होगा। इसके विपरीत यदि अकल्याणकारी दृश्यों का प्रवेश चक्षुद्वार द्वारा अन्तःप्रवेश कर गया, तो हमारे मन द्वारा किया जाने वाला मानसिक-कार्य और बुद्धि के द्वारा किया जाने वाला बौद्धिक-कार्य दूषित हो जायेगा, जो अनेकानेक प्रकार की विकृतियों को जन्म देगा। इसी प्रकार हमारे कानों का, मुख का, नासिका का, त्वचा का, सभी कार्य उचित या अनुचित रूप में जिस-जिस प्रकार का अनुभव प्राप्त करेंगे, अपने-अपने आहार को ग्रहण करेंगे, वैसे-वैसे उससे हमारा मानसिक व बौद्धिक व्यापार प्रभावित होगा। इसी कारण से जब इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा श्रेष्ठतम कार्य किया जाता है, तब श्रेष्ठ उपासक उस कार्य को करने से पूर्व अपने परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करता है -

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

(यजु0 25/14)

अर्थात् - हे दिव्यगुणवाले प्रभो ! हम कानों से कल्याणकारी शब्दों को सुनें, आंखों से कल्याणकारी वस्तुओं का ही दर्शन करें। हे सृष्टियज्ञ के विधाता ! हम सुदृढ़ अङ्गवाले इस मनुष्य शरीर द्वारा आपका स्तवन करते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करें।

जब इस प्रकार दृढ़-संकल्पवान् बनकर उपासक कार्य करने लगता है, तो उसके अन्दर पवित्रता ही पवित्रता भर जाती है। उस पवित्रता का प्रभाव इतना अधिक होता है कि ज्ञानेन्द्रियों से प्रेरित होने वाली पांच कर्मेन्द्रियां भी पवित्र कार्यों को करने को उद्यत हो जाती हैं।

कल्पना कीजिये कि जब किसी उपासक ने **'सुमनसः'** अपनी मन व बुद्धि को पवित्र बना लिया, और **'सुचक्षसः'** अपनी समस्त इन्द्रियों को पवित्र बनाकर पवित्र कार्य कर लिया, तब कौन-सा ऐसा अवरोध होगा जो उसको अपने पिता के दर्शन से वंचित कर सके ? तब उत्तर आयेगा - नहीं। क्योंकि हम सबका पिता परमात्मा तो पूर्व से ही आत्मा के इतना अधिक सन्निकट है कि कोई अन्य किसी पदार्थ इससे अधिक सन्निकटत हो नहीं सकता; फिर भी यदि हम अपने पिता के दर्शन नहीं कर पाते, तो उसका एकमात्र कारण है - अपवित्रता। यदि कोई उपासक अपने जीवन में मन-बुद्धि-ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के अन्दर पवित्रता

उत्पन्न कर, अपने समस्त कल्मष व अपवित्रता को धो डाले, तो वह निश्चित ही अपने पिता का साक्षात्कार कर सकता है। इसीलिये वेद भगवान् कहते हैं कि – यदि तुम अपने पिता के दर्शन व सानिध्य को प्राप्त करना चाहते हो, तो **सुमनसः सुचक्षसः** की अवधारणा को धारण कर अपने को इतना पवित्र बना लो कि पिता स्वयं ही आपकी पवित्रता से अभिभूत होकर आपको अपनी गोद में बिठाने के लिए आतुर हो उठे और तुम्हें पिता की गोद में बैठने का आनन्द प्राप्त हो सके। इसीलिये वेद भगवान् अगले सोपान का निर्देश देते हुए कहते हैं –

(3) प्रजावन्तः – उत्तम प्रजा वाले बनो। प्रजा का अर्थ है – उत्तम सन्तान से युक्त होना। भौतिक अर्थ में आप यहां यह कह सकते हैं कि श्रेष्ठ सन्तान प्राप्त करना किसी भी मनुष्य के जीवन में आनन्दवर्द्धन का एक कारण होता है, परन्तु जब अध्यात्म के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करेंगे, तो यहां यह समझना आवश्यक है कि हमारे शरीर का राजा आत्मा है, मन-बुद्धि दो उसके कुशल मन्त्री हैं, और समस्त इन्द्रियां उसकी प्रजा हैं। जिस राज्य के मन्त्री आदि सहयोगीगण और जिस राज्य की प्रजा पवित्र भाव वाली होगी, उस राज्य के राजा व प्रजा की स्थिति कितनी अधिक आनन्ददायक होगी, और वह राजा अपने चक्रवर्ती सम्राट परमात्मा रूपी राजा के कितना अधिक सन्निकट होगा, इसकी हम स्वयमेव कल्पना कर सकते हैं। वेद भगवान् भी हमें उसी चक्रवर्ती सम्राट परमात्मा के दरबार में प्रवेश दिला रहा है। पर यह तभी सम्भव है जबकि चक्रवर्ती राजा की अधीनता में रहनेवाला राजा और उसकी प्रजा श्रेष्ठ हो। याद रखो – जैसे प्रजा का अस्तित्व किसी राजा के बिना सम्भव नहीं होता, वैसे ही राजा का अस्तित्व प्रजा के बिना सम्भव नहीं है। यदि दोनों का अस्तित्व पृथक्-पृथक् कर दिया जाय, तब फिर न कोई राजा है और न कोई उस राजा की प्रजा। इसी प्रकार बिना शरीर के आत्मा का कोई विशेष अस्तित्व नहीं है, क्योंकि आत्मा के बिना शरीर के द्वारा किसी भी कार्य को नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार यह भी मान लीजिये कि आत्मा के अस्तित्व के कारण ही यह शरीर, शरीर है, अन्यथा यह शव है, जिसका स्पर्श करना भी वर्जनीय माना जाता है। इसलिये जब आत्मा शरीर के साथ संयुक्त होती है, तब आत्मा राजा है, और उसकी समस्त इन्द्रियां प्रजा हैं। प्रजा राजा से युक्त होती है, या राजा प्रजा से युक्त होता है, तभी कार्य सम्यक् प्रकार से चल सकता है। इसलिये वेद भगवान् कहते हैं कि –

'प्रजावन्तः' प्रजा को ठीक बनाओ, अर्थात् अपनी इन्द्रियों को पवित्र बनाओ। पर यह ध्यान रहे कि यह कार्य मात्र स्व-अर्थ तक ही सीमित न हो, बल्कि यह पर-अर्थ=परार्थ से भी संयुक्त हो। यह तभी सम्भव है कि प्रजातन्त्र के कार्य में हम स्वार्थ की दीवारों को तोड़ दें, अपनी शक्ति का सदुपयोग परार्थ के कार्यों में करें। जब यह कार्य होगा, तो उस परमात्मा की कृपा मिलना असम्भव नहीं, सहज हो जायेगा। उसका दर्शन स्वानुकूल हो जायेगा और उसका सानिध्य स्वाधिकार हो जायेगा। इसके लिए आवश्यक है,

कि हम स्वयं **'सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तः'** उत्तम मन-बुद्धि वाले बनकर अपनी श्रेष्ठ इन्द्रिय रूपी प्रजा के स्वामी बनकर सर्वाधिपति के साम्राज्य में प्रवेश कर, आनन्द का पान करें। पर यह ध्यान रहे कि इस कार्य में किसी भी प्रकार की असावधानी न हो। इसलिये वेद भगवान् जागृत करने की भावना से कहते हैं -

(4) अनमीवा - हम रोगरहित हों। वेद के इस सन्देश को हमें गम्भीरता से लेना चाहिये, क्योंकि रोगी मनुष्य शरीर-मन-बुद्धि से भी रोगी हो जाता है। कभी आप कल्पना कीजिये कि जिसका मन बुझा-बुझा-सा रहता हो, बुद्धि मन्द हो गई हो और शरीर रोगों के कारण अस्वस्थ हो गया हो, क्या उसके मन में परमात्मा का साक्षात्कार करने की अभिलाषा उत्पन्न हो सकती है ? और यदि हो भी गई, तो क्या मात्र अभिलाषा करने से कार्य चल सकता है ? अरे ! जिस लक्ष्य को प्राप्त करने की अभिलाषा है, उसकी प्राप्ति के जो-जो साधन हैं, उनका अनुसरण जब तक नहीं किया जायेगा, तब तक उसकी अभिलाषा उसकी कैसे पूर्ण होगी ? अस्वस्थ मनुष्य के कार्य करने का उत्साह जब मन्द हो जाता है, उसके कार्य करने की क्षमता घट जाती है, तो वह श्रेष्ठ कार्य करने में असमर्थ रहता है। इसलिये आवश्यक है कि मनुष्य नीरोग रहे, स्वस्थ रहे, प्रसन्न चित्त रहे, उसके अन्दर लक्ष्य को पाने की विशिष्ट भावना विद्यमान रहे, ऐसा ही मनुष्य किसी लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। अब यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि मनुष्य रोगरहित कैसे बने ? इस प्रश्न का समाधान जानने से पूर्व प्रथम यह जाना जाय कि रोग किस कारण से होता है ? यदि रोग के कारणों को आप जानने का प्रयत्न करेंगे, तो प्रतीत होगा कि कर्मशील न रहना, भोगों को अधिक भोगने में प्रवृत्त रहना अथवा पापमय कार्यों को करना ही रोगी होने के प्रमुख कारण हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी 'सत्यार्थप्रकाश' में एक स्थान पर लिखा है कि - "अधिक धन आलस्य और प्रमाद को उत्पन्न करता है। उसकी भोगों को भोगने की प्रवृत्ति अधिक जागृत हो जाती है।" याद रखो, जिस मनुष्य में आलस्य का दोष उत्पन्न हो गया, उसे परमात्मा तो क्या, संसार के भौतिक सुख भी प्राप्त नहीं होंगे। उसको कोई स्नेह नहीं करेगा। यहां तक कि उसने जिस घर में जन्म लिया है, उस घर के लोग भी जब उससे प्यार नहीं करते, तो फिर संसार में कौन उससे प्रेम करेगा ? आलसी मनुष्य की इच्छा रहती है कि कर्म कोई करे और फल उसको मिल जाये। पढ़ाई कोई अन्य करे, पर परिणाम उसे मिल जाय। क्या यह बात व्यवहार में सम्भव है ? यदि नहीं, तो फिर यह भी निश्चित है कि आलसी मनुष्य कभी सुखद परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। आलसी मनुष्य पुरुषार्थ व कर्म से रहित होकर मात्र कल्पना के महल बनाता है, ऐसा मनुष्य यदि अस्वस्थ नहीं होगा, तो क्या होगा ? याद रखो, यदि आपने अपने शरीर को रोग रहित करना है, तो फिर पुरुषार्थी कर्मशील बनो, तभी आपका शरीर रोगरहित बन पायेगा।

रोगी बनने का दूसरा कारण है - भोगों के प्रति आसक्ति। यह माना कि संसार हमें

परमात्मा ने भोगों को भोगने के लिए दिया है, पर कैसे ? तब इसका उत्तर होगा - **"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा"** त्यागपूर्वक भोग करने के लिये। जितनी आवश्यकता है, जितने से मेरा काम चल सकता है, उतना मैं ग्रहण कर लूं, शेष छोड़ दूं; यही त्याग है। त्याग का अभिप्राय यह नहीं कि सब कुछ छोड़ दो। यदि सब कुछ छोड़ना है, तो फिर घर छोड़ो, जंगल छोड़ो, वस्त्र छोड़ो, शरीर छोड़ो। यदि सब कुछ ही छोड़ दोगे तो संसार में क्यों आये थे ? परमात्मा ने संसार में क्यों भेजा था ? क्यों आपने संसार में आकर शरीर को तथा उसके लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त किया ? याद रखो, त्याग का अर्थ बिल्कुल छोड़ना नहीं, बल्कि इतना ही है कि जितना आपका अधिकार है, जितनी आपकी आवश्यकता है, उतना भोग ग्रहण करो; शेष दूसरों के लिए छोड़ दो। यदि तुम भोगों को अपना मानकर निरन्तर भोगों को भोगने में ही लगे रहे, तो याद रखना तुम भोगों को नहीं भोगोगे, बल्कि भोग ही तुम्हें भोग लेंगे। जबकि भोग भोगने के लिए हैं, न कि हम भोग के पाश में बंधकर अपने स्वत्व के अधिकार को नष्ट कर, पराधीन बन जायें। तभी तो राजा भर्तृहरि ने लिखा है -

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
तपो न तप्तं वयमेव तप्ता॥

भोगों को भोगो, पर इतना मत भोगो कि भोग ही तुम्हें भोग जायें। तपस्या करो, पर ऐसा तप मत करो कि तप ही तुम्हें तपाकर नष्ट कर डाले। इसलिये वेद का प्यारा सन्देश है - **"त्यागपूर्वक भोग करो।"**

दूसरी बात यह है कि - **"भोगे रोग भयम्"** भोगों को अधिक भोगने वाला रोगी अवश्य होता है। रोगी मनुष्य सांसारिक लक्ष्यों को ही जब प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर आत्मा-परमात्मा के ज्ञान को कैसे प्राप्त करता है। जब किसी भी कार्य में सीमा का अतिक्रमण होने लगता है, तो फिर आप दुःखद परिणाम आने को किसी प्रकार से रोक नहीं सकते। यदि उन्हें आप रोकना चाहते हैं, तो प्रथम आप अपनी इच्छाओं पर अंकुश लगाईये। इच्छाओं के वश में होने के स्थान पर इच्छाओं को अपने वश में करने का सदैव प्रयत्न कीजिये। इसीलिये वेद भगवान् ने अगला शब्द देते हुए यह संकेत दिया है कि जो अपनी इच्छाओं पर अंकुश नहीं रख पाता, वह पाप अवश्य करता है, जबकि पाप करने वाले को परमात्मा कभी प्राप्त नहीं होता। इसलिये वेद कहता है -

(5) अनागसः - पाप रहित होना। पाप रहित होने वाला ही परमात्मा का दर्शन कर सकता है। जो मनुष्य पाप कर्म करता है, वह शरीर-मन व बुद्धि से अस्वस्थ हो जाता है।

जब मनुष्य पाप करता है, तो परमात्मा अन्तर्यामी होकर उस पाप करने वाले मनुष्य को सजग करता है। जब हम उस पिता की बात को अनसुना कर देते हैं, और अपने स्वार्थ में निमग्न हो जाते हैं, तो हमारी वह स्वार्थमय प्रवृत्ति पापों को जन्म देती है। पाप का परिणाम दुःख होता है और पुण्य का परिणाम सुख, यह शाश्वत सिद्धान्त है, इसलिये पापी मनुष्य रोगरहित नहीं हो सकता।

आप यहां तर्क दे सकते हैं कि संसार में अनेकों लोग ऐसे हैं, जो पापकर्म करते हैं, पर खूब सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं, और जो धर्मी हैं, वे दुःखमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं; तो फिर कैसे माना जाय कि पाप कर्मों के करने से दुःख की प्राप्ति होती है।

आपके इस तर्क को हम झुठला नहीं रहे, क्योंकि संसार में प्रायः ऐसा ही देखने को मिलता है। पर यहां यह अवश्य विचार कर लें कि – क्या आप उसको सम्पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं? क्योंकि किसी भी वस्तु को दो प्रकार की दृष्टि से देखा जाता है, एक है – बाह्यदृष्टि, और दूसरी है – आन्तरिकदृष्टि। जब आप इस प्रकार की घटनाओं को बाह्यदृष्टि से देखते हैं, तो आपको ऐसा प्रतीत होता है कि पाप कर्म करने वाला सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा है, पर जब आप ऐसे मनुष्य को आन्तरिकदृष्टि से देखेंगे, तो आप यह पायेंगे कि वह सुख के पीछे अनेकों प्रकार के दुःख भी प्राप्त कर रहा है। उसे ठीक प्रकार से नींद नहीं आती, नींद के लिए गोलियां खाता है, पर वे सब बे-असर रहती हैं। शरीर अनेकों रोगों का घर बना हुआ है, मन में अनेकों प्रकार की चिन्तायें विद्यमान हैं। उसका जीवन अनेकों प्रकार की मानसिक चिन्ताओं से ग्रसित है, तब क्या आप ऐसे मनुष्य को सुखी कहेंगे? अरे! वह पिछले पुण्य कर्मों का फल सुख के रूप में पा रहा है, पर जब उसका वह पुण्यवाला भोग समाप्त हो जायेगा, और पाप के चक्र में उसे जब पिसना पड़ेगा, तब प्रतीत होगा कि पाप करना जितना आसान है पर फल भोगना अत्यन्त कष्टदायक है। जो पाप किया है, उसको बिना भोगे दूर नहीं किया जा सकता। दुःख जब आता है तो हम उससे भागने लगते हैं, पर दुःख हमारा पीछा तब ही छोड़ता है जब हम उसका भुगतान कर देते हैं। तभी तो कहा है –

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि॥

(अत्रिस्मृति)

अर्थात् – मनुष्य जैसा शुभ वा अशुभ कर्म करता है, उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। बिना भोगे कर्म करोड़ों वर्ष तक भी नहीं मिटता।

इसलिये जो मनुष्य अस्वस्थ है, पापकर्म में प्रवृत्त है, वह कभी परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। तभी तो वेद भगवान् कहते हैं कि – "जो मनुष्य नीरोग है, वही दीर्घायु प्राप्त कर सकता है और वही परमात्मा का दर्शन कर सकता है।" उसका कारण यह है कि स्वस्थ मनुष्य परमात्म-साक्षात्कार के सभी साधनों का उपयोग कर सकता है, तप कर सकता है, कठिन साधना कर सकता है, मन का पूर्ण निग्रह कर सकता है, बुद्धि को समत्व में संयुक्त कर सकता है, और एक दिन वह साक्षात्कार के साधनों के पालन द्वारा परमात्मा का दर्शन भी कर सकता है। अस्वस्थ मनुष्य का शरीर अस्वस्थ, उसमें रहने वाला मन-बुद्धि आदि भी अस्वस्थ, और इनका अधिपति आत्मा भी अस्वस्थ। इसलिये यदि इच्छा है परमात्मा का साक्षात्कार करने की, तो शरीर को स्वस्थ, मन-बुद्धि को पवित्र तथा आत्मा को सुसंस्कारवान् बनाओ, तभी परमात्म-साक्षात्कार सम्भव है, अन्यथा नहीं। ❑

मानव-निर्माण का आधार - संस्कार

स्नातक अर्जुनदेव शास्त्री
आगरा (उत्तरप्रदेश)

आधुनिकयुग भौतिकयुग है। भौतिक साधनों की पूर्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। अतः वर्त्तमान समय में सबको एकमात्र चिन्ता धनोपार्जन ही है। सत्य तो यह है कि धन की उपेक्षा करना, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न न करना अज्ञान है, मूर्खता है। प्राचीन शास्त्रों में धन की अपेक्षा की शिक्षा नहीं प्राप्त होती है। धन तो प्राप्त करना है, परिश्रमपूर्वक, ईमानदारी के साथ, सत्याचरण के साथ धनार्जन करना उत्तम है। स्वामी दयानन्द निर्मित आर्यसमाज के नियमों में 'नवम्' नियम है - **"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"**

यह नियम यह शिक्षा देता है कि दूसरों को हानि पहुंचाकर छल-कपट से धनार्जन करना उत्तम नहीं है। जहां जीवन का लक्ष्य एकाङ्गी हो, मात्र भौतिक उन्नति हो, केवल स्वार्थभाव से पुष्ट स्व-जिजीविषा का भाव हो, संग्रहवृत्ति का विकास हो, वहां मानवता एवं मानवीयगुण कैसे सुरक्षित रह सकते हैं? वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में धनार्जन के मशीन के रूप में छात्रों का निर्माण किया जाता है। धनार्जन के लिए दूसरों की उन्नति की चिन्ता नहीं, वरन् रिश्वत से, छल-कपट से, मिलावटखोरी से, असत्यवादिता से, अपहरण से, व्यभिचार से धनार्जन एकमात्र लक्ष्य रह गया है। मात्र भौतिक प्रगति से धन की दौड़ में, मानवता का, पारस्परिक स्नेहभाव का, त्याग का, सेवाभाव का विनाश हो गया है। दूसरे का मकान भले ही जल जाय, पर अपना सुरक्षित रहना चाहिये।

भौतिकवादिता ने आत्मा को पतन के कगार पर खड़ा कर दिया है, विलासिता भरा जीवन ही जीवन है, यह मान्यता प्रदान की है। छोटे-छोटे बालक दुर्व्यसनों में आकण्ठ निमग्न हो रहे हैं। अध्ययन से जिस प्रतिभा का विकास होता है, मानवमात्र की प्रगति का मार्ग सुलभ होता है, विश्व-कल्याण की भावना जो प्रतिभा निर्माण करती है, आज वही प्रतिभा अश्लील नाच-गाने भौंडे प्रदर्शन में संलग्न है। बालपन की यह दशा है, तो युवावस्था में ये क्या कर पायेंगे? कामशक्ति को बढ़ानेवाले ये विविध विज्ञापन युवावस्था के पतन की चरमसीमा वर्णित कर रहे हैं।

प्रश्न है, क्या प्राचीन आदर्श मानव का निर्माण, सभ्य समाज का निर्माण, प्रेम-सौजन्यता, सेवाभावी मानव का निर्माण सम्भव है ? क्या चरित्रवान्, सत्यनिष्ठ, कष्टसहिष्णु, त्याग-तपस्या से पूर्ण आदर्श मानव का निर्माण सम्भव है ? क्या राजा अश्वपति की घोषणा वाले राज्य का पुनर्निर्माण सम्भव है ? अश्वपति की घोषणा थी -

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न च मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

(छान्दो0 5/5)

अर्थात् – मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कृपण है, न शराबी है। प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ करनेवाला है। व्यभिचारी कोई है नहीं, तो व्यभिचारिणी स्त्रियां कहां से होंगी ?

इस आदर्शमय घोषणा की पुनः स्थापना सम्भव है। जैसे मानवता का पतन अनेक वर्षों में हुआ है, वैसे ही प्रगति के लिए भी अनेक वर्ष लग सकते हैं। प्राचीन ऋषियों ने इस पर अन्वेषणपरक विचार किया। उनके विचारों में समग्र इन्द्रियादि साधनों सहित शरीर है। यह शरीर नश्वर है, इसका मूल्य आत्मा के कारण है। शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है। शरीर, शरीर के समस्त इन्द्रियादि साधन जड़ हैं। आत्मा चेतन है, आत्मा की चेतनता से इनमें गति है। आत्मा को उत्तम गति प्राप्त हो, वह प्रशस्त तथा श्रेष्ठ मार्ग पर चले, इसके लिए दश इन्द्रियों के अतिरिक्त साधन अन्तःकरण-चतुष्टय (मन-बुद्धि-चित्त और अहङ्कार) की संज्ञा से जाना जाता है। इनका विवेचन इस प्रकार है –

मन = **'संकल्पविकल्पात्मकं मनः'** निश्चय-अनिश्चय के विचारों में दोलायमान रहनेवाला मन है।

बुद्धि = **'निश्चयात्मिका वृत्तिः बुद्धिः'** दोलायमान मन की स्थिति, निश्चयात्मक स्थिति वाली बुद्धि है।

चित्त = शुभ-अशुभ विचारों तथा तदनुकूल कर्माभ्यास को संगृहीत करने वाला चित्त है।

अहङ्कार = 'मैं' 'मेरा' आदि अहंभाव की वृत्ति रखनेवाला अहङ्कार है।

संसार में आकर शरीरधारी मनुष्य कर्म करने लगता है। ये कर्म शुभ-अशुभ होते हैं। बार-बार कर्म में संलग्न रहने से कर्म करने का अभ्यास होता है। यह कर्माभ्यास चित्त में संग्रहीत होकर पुनः-पुनः उसी संग्रहीत वृत्ति के अनुसार कर्म करने की स्फुरणा प्रदान करता है। यह स्फुरणा शुभ-अशुभ कर्मों में जिसकी अधिकता हो, मनुष्य विवश होकर अभ्यास में आये हुए कर्म को करने में प्रवृत्त होता है। साधारण भाषा में हम जिसे अभ्यास कहते हैं, उसी को आध्यात्मिक भाषा में संस्कार कहते हैं। विचारणीय प्रश्न है कि लोकव्यवहार में जिसे ग़लत कार्य करने का अभ्यास हो, उसको सही कार्य करने की ओर बदल सकते हैं या नहीं ? अवश्य बदल सकते हैं, पर किसी को सरलता से या किसी को श्रमसाध्य परिश्रम से। बस, हमें इसके लिए प्रयास करने की आवश्यकता है।

हमारे ऋषियों ने बालक की वृत्तियों को बदलने के लिए मनोवैज्ञानिक सहारा लिया। उन्होंने अनुभव किया कि छोटे से कोमल वृक्ष की गति को इच्छानुसार मोड़ सकते हैं, सफलतापूर्वक वह इच्छित-दिशा की ओर बढ़ने लगता है। ठीक ऐसे ही बाल्यावस्था से ही संस्कार-सरणि के माध्यम से उसकी वृत्ति को अशुभ से हटाकर शुभ कर्म की ओर मोड़ सकते हैं। अतएव आयु के 25 वर्ष तक 16 संस्कारों में 12 संस्कार सम्पन्न करके बार-बार प्रयास करके चित्त में पड़े अशुभ संस्कारों को शुभ-संस्कारों

में बदलते हैं। यह बदलाव कोमल स्वभाव वाले बालक की समुचित शिक्षा द्वारा सम्भव है।

अनेक लोगों को यह परिवर्तन असंभव लगता है। विचारणीय यह बात है कि सुसंस्कृत चरित्र को सर्वोपरि समझनेवाले भारतीयों की वर्त्तमान अवस्था ऐसी क्यों हुई ? त्याग-तपस्या वाले भारतीयों को भोग-विलासिता में आकण्ठ निमग्न किसने किया ? आज भी अनेक वृद्ध, ग़रीब ग्रामवासी कष्ट सहकर भी छल-कपट के व्यवहार से सर्वथा दूर हैं। आज जो मानवता का पतन है, उसका मूल कारण वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली है। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में वस्त्रों को, विलासिता को महत्त्व न देकर **'सादा जीवन उच्च विचारों'** को महत्त्व दिया जाता था। उस समय शिक्षा देने वाले चरित्रवान् विलासिता से दूर रहनेवाले, स्वयं त्याग-तपस्या कष्टसहिष्णु जीवन जीनेवाले आचार्य होते थे। ये शिक्षक अपने आचरण से, पवित्र विचारों से बालक का निर्माण करते थे। गीता का वचन है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता 16/21)

काम, क्रोध तथा लोभ - ये तीन आत्मा को नष्ट करनेवाले नरक के द्वार हैं। इसलिए इनको त्याग देना चाहिये।

अनेक गीताभक्त इन वचनों को पढ़ते हैं, परन्तु इनका त्याग नहीं कर पाते। क्योंकि -

आशापाशशतैर्बद्धा कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥

(गीता 16/12)

सैकड़ों प्रकार की आशाओं के पाश में बंधे हुए, काम-क्रोध में संलग्न होकर इनकी पूर्ति के लिए अन्याय से धनार्जन में लगे रहते हैं। यह सारी देन है - शिक्षा-प्रणाली की। हजारों वर्षों से त्याग-तपस्या पर आधारित उच्च चरित्र वाले भारतीयों का पतन थोड़े ही अर्थात् सौ-दो सौ वर्षों में इतना अधिक हो गया ? कारण स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने हमारी शिक्षा पद्धति को हीन बताकर, अपनी शिक्षा नीति को अधिक श्रेष्ठ और अधिक धनोपार्जन का साधन बताकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को ऊंची पदवी वाली नौकरियां देकर, हमारी शिक्षा प्रणाली को पददलित करने का भरसक प्रयास किया। जिसका परिणाम भविष्य में यह हुआ कि ऊंची नौकरी, अच्छा वेतन तथा सम्मान जनक प्रतिष्ठा के लोभ के कारण, भारतीय लोग अपनी भाषा संस्कृति से विमुख होकर अंग्रेजी भाषा के दास बनते चले गये।

इतना ही नहीं, उन कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने 14 वर्ष तक संस्कृत में शिक्षित शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण, आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण का वेतन प्रत्येक दशा में मिडिल पास अंग्रेजी वाले की तुलना में 75% कम रखा। वेतन की इस असमानता ने संस्कृत-शिक्षा तज्जन्य संस्कृति शिक्षा से दूर कर दिया, और हमें मानसिक रूप से भी अंग्रेजियत का गुलाम बना दिया। हम भारतीयों से तो अच्छे वह आयरलैंडवासी रहे, जहां पर अंग्रेजों ने एक विश्वविद्यालय खोला, किन्तु उसमें कोई भी आयरलैंड का छात्र पढ़ने नहीं गया। कारण, एकमात्र 'आयरिश' भाषा

पढ़ानेवाले अध्यापक का वेतन अंग्रेजीभाषा के पढ़ानेवाले अध्यापक के वेतन की अपेक्षा अत्यन्त न्यून रखा गया। वेतन समान होने पर ही छात्र विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए पहुंचे। अंग्रेजों की कूटनीति भारत में चली, किन्तु आयरलैंड में नहीं चली।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शिक्षाप्रणाली के माध्यम से ही नागरिकों का, मानवों का निर्माण होता है। यदि हमें अपने देश में फिर से श्रेष्ठ मानवों का निर्माण करना है, तो प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की स्थापना करनी चाहिये। इस शिक्षा प्रणाली के माध्यम से हमारे देश के भावी कर्णधार उत्तम, चरित्रवान्, आदर्श नागरिक बनेंगे। ये नागरिक भावी सन्तान के लिए उसको श्रेष्ठ चरित्रवान् बनाने के लिए ऋषियों द्वारा अन्वेषित संस्कारों का महत्त्व समझकर उसको अपने घरों में विधिपूर्वक सम्पन्न करायेंगे। संस्कारों द्वारा बालक में गुणों का वर्द्धन होता है और बालक में दोषों का निवारण होता है। निश्चय से संस्कारों द्वारा तीन कार्य सम्पन्न होते हैं - (1) दोषापनयन (2) गुणाधान (3) हीनाङ्गपूर्ति।

वर्त्तमान में हम संस्कारों के द्वारा उत्तम मानव का निर्माण कर सकते हैं, इस तथ्य को पूरी तरह से हम भूल चुके हैं। इस समय हम सभी आर्यों का कर्त्तव्य है कि इस संस्कार-सरणी के महत्त्व को अच्छी तरह समझकर तथा इसे महत्त्व का वर्त्तमान समाज में प्रचार कर, संस्कारों की सरणी को प्रचलित करें, तब कहीं श्रेष्ठ मानव का निर्माण हो सकता है। ❑

प्रचलित-न्याय के अर्थ

(आचार्य श्याम)

न्याय जहां सत्य-असत्य के विवेक की कसौटी है, वहां कुछ न्याय व्यवहार में ऐसे भी हैं, जिनका प्रचलन प्रायः होता है, पर उनका अर्थ हमें ज्ञात नहीं होता। आईये उन न्यायों के भावों को जानने का प्रयत्न करें। प्रायः व्यवहार में निम्न 3 न्याय हैं -

(1) विवकृमि न्याय - विष में पले कीड़ों का नीतिवाक्य। यह उस स्थिति को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जो दूसरों के लिए घातक होते हुए भी उनके लिए घातक नहीं होते, जो उसी में जन्मे या पले हैं। क्योंकि वह स्थिति तो उनका स्वभाव बन गया है। जैसे कि विषकृमि जो विष से ही जन्मा है। विष चाहे दूसरों के लिए घातक हो, परन्तु उसके लिए घातक नहीं होता, जो उसी विषैली स्थिति में पले हैं।

(2) विषवृक्ष न्याय - विषवृक्ष का नीतिवाक्य। यह उस स्थिति को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जो यद्यपि उत्पातमय या आघातपूर्ण हो, तो भी उस व्यक्ति के द्वारा जिसने उसे बनाया है, नष्ट किये जाने के योग्य नहीं। जैसे कि एक वृक्ष चाहे विष का ही क्यों न हो, वह भी लगाने वाले के द्वारा काटा नहीं जाता।

(3) स्थालीपुलाक न्याय - पकते हुए बर्तन में से एक चावल देखने का नीतिवाक्य। देगची में पड़े हुए सभी चावलों पर गर्म पानी का समान प्रभाव पड़ता है। जब एक चावल पका हुआ होता है, तो यह अनुमान लगा लिया जाता है कि अन्य सब चावल पक गए हैं। अतः यह नीतिवाक्य उस दशा में प्रयुक्त होता है, जब समस्त श्रेणी का अनुमान उसके एक भाग को देखकर लगाया जाय। ❑

जीवन का प्रमुख उद्देश्य - "समुन्नति"

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली

संसार में कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो जीवन के हर क्षेत्र में उन्नति करने की अभिलाषा न रखता हो ? प्रत्येक मनुष्य यह चाहता है कि मेरी हर प्रकार से उन्नति हो। मैं जीवन में धन, पद, मान, प्रतिष्ठा आदि जो भी प्राप्त करना चाहूं, वह मुझे प्राप्त हो जाय। ठीक भी है, यदि मनुष्य अपने जीवन को प्राप्त करके भी हर क्षेत्र में उन्नति नहीं कर सका, तो फिर उसे मानव जीवन की प्राप्ति का क्या लाभ ? परन्तु उस समुन्नति की अभिलाषा वाले व्यक्ति से आप यह पूछें कि आप क्या करते हो ? तो वह व्यक्ति उत्तर देगा कि - मैं दुकान पर जाता हूं, ऑफिस जाता हूं, व्यापार करता हूं। अब आप उससे पूछें कि - आप जो भी कार्य सारे दिन करते हैं, तो उससे आपको क्या मिलता है ? तब वह व्यक्ति उत्तर देगा - धन या पैसा। अब आप उससे पूछें कि - क्या धन से हर प्रकार की उन्नति की जा सकती है ? तो वह बिना विचार किये सहजता से उत्तर देगा - हां। पर जब आप ऐसे व्यक्ति के उत्तर पर गम्भीरता पूर्वक विचार करेंगे, तो आपको प्रतीत होगा कि धन से कुछ चीज़ें प्राप्त की जा सकती हैं, पर सब कुछ प्राप्त नहीं किया जा सकता। धन से बादाम-किशमिश खरीदे जा सकते हैं, पर बुद्धि नहीं। धन से बढ़िया सुस्वादु भोजन खरीदा जा सकता है, पर स्वास्थ नहीं। धन से बड़े-बड़े मकान बंगले खरीदे जा सकते हैं, अच्छी से अच्छी गाड़ियां खरीदी जा सकती हैं, पर शान्ति नहीं। यह माना कि बुद्धि-स्वास्थ्य व शान्ति में धन के द्वारा कुछ अंशों में साधनों द्वारा सहयोग हो सकता है, परन्तु सब कुछ नहीं मिल सकता। अगर धन से बुद्धि प्राप्त हो जाती, तो सभी धनिकों को तीव्र बुद्धि वाला होना चाहिये। यदि धन से स्वास्थ्य मिल जाता, तो फिर सभी धनिक स्वस्थ रहने चाहिये। धन से यदि शान्ति मिल जाती, तो फिर सभी धनिक शान्त होने चाहिये ? पर ऐसा नहीं होता। कभी-कभी तो ऐसे भी दृश्य देखने को प्राप्त होते हैं कि धनिक व्यक्ति न सूखे मेवे खा सकता है और न षड्रस व्यञ्जनों का उपयोग कर सकता है। डाक्टर ने उसके लिए एक प्रतिबन्ध की रेखा खींच रखी है कि - ये खाना है और ये नहीं खाना। साधन सम्पन्न होने के बाद भी धनिक व्यक्ति को अशान्त देखा जा सकता है। जब हम और आप इस पहेली के उत्तर को जानने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें ज्ञात होगा कि जिससे जो चीज़ मिल सकती है, उससे वही चीज़ मिलेगी, अन्य नहीं। वस्त्र की दुकान से वस्त्र ही मिलेगा, मिठाई नहीं। मिठाई वाले की दुकान से मिठाई ही मिलेगी, रसोई का सामान नहीं। इसी प्रकार सूर्य से प्रकाश और ताप मिलेगा, पर शीतलता नहीं।

चन्द्रमा से शीतलता मिलेगी, पर प्रकाश व ताप नहीं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो-जो वस्तु जहां से मिलती है, उस-उस को वहां से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। मनुष्य यदि सर्वांगीण उन्नति जीवन में करना चाहता है, तो उसका शरीर स्वस्थ, मन शान्त, बुद्धि में विवेक चातुर्य और आत्मा में आनन्द की अनुभूति होनी चाहिये, अन्यथा उसकी सर्वांगीण उन्नति नहीं हो सकती। सर्वांगीण उन्नति में मनुष्य सन्तुष्टि प्राप्त करता है। इसलिये आवश्यक यह है कि प्रत्येक क्षेत्र की उन्नति का ध्यान रखा जाय। संयम, व्यायाम-प्राणायाम आदि क्रियाओं से अपने शरीर को स्वस्थ रखा जाय, सत्सङ्ग-स्वाध्याय, सद्विचार एवं एकान्त वास से मन-बुद्धि को शान्त रखा जाय, और ध्यान योगादि साधनों से परमात्मा के निकट बैठकर आनन्द का पान करने का प्रयत्न किया जाय। इन सभी कार्यों में धन का सहयोग लिया जा सकता है। व्यायामादि के उपकरणों को धन से खरीदा जा सकता है। स्वाध्यादि के लिए धन के द्वारा पुस्तकों को खरीदा जा सकता है। आनन्द की प्राप्ति के लिए जीवन निर्वहण के सभी संसाधनों के निमित्त धन द्वारा निश्चिन्त हुआ जा सकता है, पर आपको प्रयत्न पृथक्-पृथक् ही करना पड़ेगा, जो जिस-जिस को प्राप्त करना चाहता है।

इसलिये यदि मनुष्य अपने जीवन में सर्वांगीण उन्नति करना चाहता है, तो उसे जीवन के लक्ष्य सुख-शान्ति व आनन्द को निर्धारित कर, उसके भिन्न-भिन्न साधनों की तालिका बनानी चाहिये, और फिर प्रत्येक साधन के प्रति तन्मयता, पूर्ण निष्ठा के साथ कर्त्तव्य में संलग्न हो जाना चाहिये, तब ही मनुष्य सर्वांगीण उन्नति करने में सफल हो सकता है, अन्यथा नहीं।

यहां एक बात यह और याद रखनी चाहिये कि वह अपने पुरुषार्थ से जितनी-जितनी उन्नति जीवन में करता जाय, उतनी-उतनी मात्रा में उसे और अधिक विनम्र होने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि उन्नति शब्द का अर्थ है - उत् + नत्। अर्थात् उत्=ऊंचा, और नत्=झुकना, जितना-जितना कद आपका बढ़ता जाय, उतनी-उतनी मात्रा में अधिक से अधिक झुकने का प्रयत्न किया जाय, जिससे आपके जीवन में विनम्रता का गुण आ सके। इस गुण के आने का लाभ यह होगा कि आप सदैव अहङ्कार के दोष से मुक्त रहेंगे। जो व्यक्ति अहङ्करी होता है, लोग उसके सद्गुण को भी दुर्गुण समझकर उससे अपना सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न नहीं करते। उसका यह दोष इस जीवन में ही परिवार-समाज से पृथक् नहीं करता, वरन् वह अहङ्कार दोष के कारण न तो कर्त्तव्य का ठीक प्रकार से निर्बहण कर सकता है, और न वह परमात्मा को प्राप्त ही कर सकता है।

इसलिये आवश्यक है कि निरहङ्कारी होकर, विनम्र बनकर, कर्त्तव्य पालन के प्रति सजग रहकर यदि उन्नति के साधनों का अनुसरण किया जाय, तो मनुष्य शरीर-मन बुद्धि और आत्मा की उन्नति करता हुआ सर्वांगीण उन्नति करने में सफल हो सकेगा। आओ हम संकल्प करें, और सर्वांगीण उन्नति के जो-जो साधन हैं, उनका परिपालन कर सदैव सुखी रहें।

❑

धर्म संवर्द्धिनी सभा के तत्त्वावधान में दिनाङ्क २९ मार्च २०१७ को नवसंवत्सर-यज्ञ एवं १५ मई से २१ मई २०१७ तक सनातन धर्म मन्दिर नारायणा में "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर"

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री
नववर्ष का यज्ञ कराते हुए

श्री दीपक शर्मा (जी-150) के सभी
परिजन नववर्ष का यज्ञ करते हुए

यज्ञ-प्रवचन के कार्यक्रम में
उपस्थित परिजन एवं श्रद्धालुजन

शिविर स्थल सनातन धर्म मन्दिर नारायणा
के द्वार पर लगा शिविर-बैनर

सनातन धर्म मन्दिर नारायणा के अधिकारी
बालकों के शिविर का अवलोकन करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा की मंत्रिणी श्रीमती
परमजीतकौर अधिकारियों के साथ

योगासन करते हुए बालक एवं
बालिकाओं को सामूहिक चित्र

कु0 निष्ठा शर्मा को पढ़ाते हुए
सभा-प्रधान श्रीमती तारा शर्मा जी

नारायणा के श्रद्धालु भक्त बालकों को
प्रातराश की व्यवस्था करते हुए

श्री दीपक भलहोत्रा बालकों को
प्रातराश वितरण करते हुए

श्री आर.पी. सिंह, श्रीमती मालती वर्मा
एवं मन्दिर के अधिकारीगण

श्री छैलबिहारी गोस्वामी (निगम-पार्षद)
बालकों को सम्बोधित करते हुए

डा0 कर्णदेव शास्त्री, श्री द्विजेन्द्र शास्त्री
श्रीमती प्रेमलता भटनागर पारितोषक देते हुए

श्री अशोक वत्रा, श्री द्विजेन्द्र शास्त्री
श्री राजवीर जी पारितोषक देते हुए

सभी अतिथि महानुभावों का धन्यवाद
करते हुए आचार्य श्याम जी

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली राज्य के तत्त्वावधान में दिनाङ्क २९ मई से ४ जून २०१७ ओमविहार तथा ५ जून से ११ जून २०१७ तक मधुविहार शिविर के प्रमुख चित्र

श्रीमती तारा शर्मा एवं श्रीमती मिथलेश शर्मा बालिका को प्रथम पुरस्कार का प्रमाणपत्र देते हुए

श्रीमती तारा शर्मा बालक को द्वितीय पुरस्कार का प्रमाणपत्र देते हुए

श्रीमती मिथलेश एवं तारा शर्मा द्वितीय पुरस्कार का बालिका को प्रमाणपत्र देते हुए

श्रीमती तारा एवं मिथलेश शर्मा बालक को तृतीय पुरस्कार का प्रमाणपत्र देते हुए

'ख' वर्ग में प्रथम-द्वितीय-तृतीय उत्तीर्ण छात्रों का सामूहिक चित्र

ओमविहार शिविर में प्रथम-द्वितीय-तृतीय पुरस्कृत छात्रों का सामूहिक चित्र

कु0 निष्ठा मधुविहार शिविर में प्रार्थना कराते हुए

आचार्य श्याम जी बालक-बालिकाओं को मधुविहार शिविर में पढ़ाते हुए

मधुविहार शिविर में बच्चे प्रार्थना करते हुए

कु0 निष्ठा 'ग' वर्ग के शिविरार्थियों के साथ अध्ययन करते हुए

बालक-बालिकायें शिविर में परीक्षा देते हुए

श्रीमती नीलम सूद, श्रीमती परमजीत कौर एवं श्रीमती श्वेता शर्मा शिविर समापन पर

नाटिका के प्रमुख पात्र अभिनव और पूजा प्रमाणपत्र प्राप्त करते हुए

श्रीमती परमजीत कौर एवं श्रीमती नीलम सूद प्रमाण पत्र प्रदान करते हुए

यक्ष-युधिष्ठिर नाटिका के सभी पात्रों का सामूहिक चित्र

धर्म संवर्द्धिनी सभा, के तत्त्वावधान में दिनाङ्क १६ जुलाई २०१७ को यज्ञ एवं पारितोषक कार्यक्रम तथा २६ नवम्बर २०१७ को मधुविहार में बच्चों को स्वेटर व कम्बल वितरण कार्यक्रम

माता श्रीमती शकुन्तला आर्या बालकों के मध्य यज्ञ कराते हुए

प्रतियोगी बच्चे पारितोषक वितरण कार्यक्रम में यज्ञ करते हुए

श्री रणवीर सिंह जी बच्चों को सम्बोधित करते हुए, साथ में श्री भूटानी जी एवं श्री चंद्रभान

रेयांश चड्ढा अपने पिता के साथ पारितोषक वितरण करते हुए

देवांश चड्ढा अपने पिता के साथ पारितोषक वितरण करते हुए

श्री वैभव चड्ढा बालकों को पारितोषक वितरण करते हुए

सोहम्, रेयांश और देवांश के साथ पारितोषक वितरण करते हुए

स्वेटर-वितरण कार्यक्रम में सम्मिलित होने वाले बालक-बालिकायें

कु0 निष्ठा शर्मा स्वेटर वितरण कार्यक्रम मधुविहार में बच्चों को प्रार्थना कराते हुए

कुमार विकास स्वेटर वितरण कार्यक्रम में अपने गीत की प्रस्तुति देते हुए

श्रीमती नीलम सूद, बालिका को कम्बल प्रदान करते हुए

श्रीमती नीलम सूद, बालिका को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती तारा शर्मा एवं श्रीमती नीलम सूद बालिका को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती नीलमसूद, बालक को कम्बल प्रदान करते हुए

श्रीमती नीलम सूद एवं तारा शर्मा कम्बल प्रदान करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा दिल्ली राज्य के तत्त्वावधान में दिनाङ्क १७ दिसम्बर २०१७ को नारायणा विहार के भोगनविला पार्क में स्वेटर वितरण के अवसर पर कुछ प्रमुख चित्र

स्वेटर वितरण के अवसर पर स्कूलों से आये हुए बच्चों का सामूहिक चित्र

श्री अशोक वत्रा, श्री पवन मरवाह एवं श्री विनय सिन्हा स्वेटर वितरण अवसर पर

श्रीमती द्रोपदी नारंग, श्री विजय घई, श्री अरोड़ा एवं श्री चन्द्रभान जी

श्री अशोक वत्रा, श्री हीरालाल खन्ना एवं श्री रणवीर सिंह स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती परमजीत कौर एवं श्री ज्ञानचंद भूटानी बालकों को स्वेटर वितरण करते हुए

श्री पवन मरवाह एवं श्री विनय सिन्हा बच्चों को स्वेटर वितरण करते हुए

श्रीमती स्वर्णकान्ता एवं श्रीमती संतोष वधवा बालिकाओं को स्वेटर प्रदान करते हुए

आर्यसमाज हनुमान रोड़ की मंत्रिणी बालकों को स्वेटर प्रदान करते हुए

सभा के उपप्रधान डा0 कर्णदेव जी बालकों को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती श्वेता शर्मा बालकों को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती सुप्रिया एवं कु0 मनोमय बालको को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती नयनतारा एवं श्रीमती उषा खुराना बालिकाओं को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती राखी शर्मा एवं श्रीमती तारा शर्मा बालकों को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती तारा शर्मा एवं कु0 निष्ठा बालकों को स्वेटर प्रदान करते हुए

श्रीमती तारा शर्मा एवं श्रीमती द्रौपदी नारंग बालकों को स्वेटर प्रदान करते हुए

वेदोद्धारक - महर्षि दयानन्द

पं0 द्विजेन्द्र शास्त्री
मेरठ (उत्तर प्रदेश)

भारतीय परम्परा में वेदों का सर्वोच्च स्थान रहा है, वैदिक तथा लौकिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह बात प्रत्यक्ष हो जाती है। वेदों को ज्ञान-विज्ञान का आदि-स्रोत कहा गया है -

भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्धयति ॥

(मनु0 12/97)

यह धारणा सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में ओतप्रोत है। इसलिए वेदेतर ग्रन्थों को परतः प्रमाण कहा गया है। स्वतः प्रमाण तो केवल वेद ही है। वेद से विरुद्ध सिद्धान्त को अप्रमाणित माना जाता है।

मीमांसाचार्य जैमिनि मुनि ने स्पष्ट घोषणा की है -

विरोध त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥

(मीमांसा 1/3/3)

इस प्रकार सर्वमान्य धर्मग्रन्थ वेदों में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक - इन तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन, प्रोक्तन ऋषि यास्काचार्य आदि ने मुक्तकण्ठ से किया है।

यदि उक्त तीनों प्रकार के भाष्य करने का प्रयत्न किया जाता, तो निस्सन्देह वेद उस अवहेलना के पात्र न होते, जो आज उनकी हो रही है। सर्ववेद भाष्यकार सायण, उब्बट, महीधर जैसे धुरन्धर भाष्यकारों ने उक्त सच्चे अर्थों की ओर ध्यान न देकर मुख्यतया कर्मकाण्ड परक ही अर्थ कर डाले; जिससे विद्वत् मण्डल में वेदों के विषय में बड़ा भ्रम तथा नैराश्य फैला और एक प्रकार से वेदों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो गई। धीरे-धीरे वेदों के यथार्थ अर्थ लुप्त हो गए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने वेदों के वास्तविक, नैरुक्तिक एवं यौगिक भाष्य शैली का प्रदर्शन कराके, वेदों पर किये गए आक्षेपों तथा उनके प्रति उत्पन्न हुई अश्रद्धा को धोकर पुनः एक बार भगवान् वेदभास्कर के सच्चे प्रकाश को संसार के सामने प्रस्तुत किया। उन्होंने वेदों की पुरातन प्रतिष्ठा, महिमा एवं गौरव को विद्वत् समाज के हृदय मन्दिर में उज्ज्वल आभा को फिर से प्रतिष्ठापित किया। वेदों को प्रचलित विकृत कर्मकाण्ड के कर्दम से ऊपर उठाकर, उनमें अनेक वैज्ञानिक तत्त्व, राजनीतिक-रहस्य, सामाजिक एवं आर्थिक मौलिक सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है, जनता को इस सत्य का बोध कराया। जिसके लिये मानव-समाज महर्षि दयानन्द का सदा के लिये आभारी रहेगा।

महर्षि दयानन्द के भाष्य को देखकर विद्वानों की सम्मति बदल गई। उनके हृदय में वेदों के प्रति दिव्य भावना उत्पन्न हो गई। उन्होंने

ऋषि दयानन्द के वैदिक नादों को नत-मस्तक होकर शतशः सहस्त्रशः अभिनन्दन किया।

योगिराज अरविन्द जैसे महाविद्वानों ने ऋषि के वेदभाष्य तथा वैदिक सिद्धान्त विषयक मन्तव्यों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की, और प्रबल शब्दों में उनका समर्थन किया। वे लिखते हैं -

"There is nothing Fantastic in Dayananda's ideas that Veda Contains truth of science as well as truth of religion. I will even add my own Conviction that the Vedas Contains other truth of a science which the mordern world does not at all possess and in the case Dayananda has rather understand than overstate the depth and range of the Vedic wisdom."

जिसका तात्पर्य है कि महर्षि दयानन्द के इन विचारों में कि वेदों में विज्ञान व धर्म के सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, यत्किञ्चित् भी असामञ्जस्य नहीं है। मैं तो इससे भी अधिक इसमें अपने विश्वास को सम्मिलित करके यहां तक कहता हूं कि स्वामी दयानन्द ने उक्त विषय में कोई अतिशयोक्ति नहीं की, अपितु न्यूनोक्ति ही की है। मेरा तो यह विश्वास है कि वेदों में विज्ञान के वे तत्त्व विद्यमान हैं, जो आधुनिक वैज्ञानिकों के पास नहीं हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के विषय में जो भ्रम फैलाया हुआ है, वह सब हमारे आधुनिक भाष्यकार सायण-महीधर आदि के भाष्यों का अन्धानुकरण करने का दुष्परिणाम है। यूरोपीय वेदभाष्यकर्त्ता विद्वानों ने आंख बन्द करके सायणादि का ही अनुवाद किया है। इसीलिए उनकी यह धारणा बन गई कि - वेद केवल गड़रियों के गीत हैं। वेदों में ऐसी ऊलजलूल बातें हैं, जिनका कोई भाव समझ नहीं आता। कितनी ही ऐसे अश्लील असम्भव कथांश हैं कि जिनका योरोपीय सभ्य भाषाओं में अनुवाद नहीं किया जा सकता -

"Are Indians are not ashamed to have this sort of Literature."

इत्यादि मैक्समूलर आदि ने ऐसी निन्द्य तथा अपमानजनक भाषा में वैदिक साहित्य की गर्हणा की है। इस स्थिति को देखते हुए भी भारतीय वेदभाष्यकार तथा उनके अनुयायी मौन साधे रहे हैं। कर्ण कुहरों को बधिर बनाये रहे। मानो किसी ने वाणी पर ताला लगा दिया हो। कितने विषाद की बात है ?

उदाहरण के रूप में **इन्द्र तथा वृत्रासुर की कथा** को ही ले लीजिये।

जर्मन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर **M. Winternits Ph.D** महोदय लिखते हैं -

"Indra can be designated as the actual national God of the Vedic Indra..... His enormous strength and combativeness are described again and again..... especially the battle of Indra and Vritra."

अर्थात् - इन्द्र वैदिक काम में भारत का मुख्य योद्धा देवता था, जिसकी महान् शक्ति तथा मल्लयुद्ध की बहुत प्रशंसा की गई हैं उसकी लड़ाई वृत्रासुर के साथ हुई, जिसको उसने मार डाला।

आगे वे लिखते हैं कुछ प्राचीन भाष्यकारों के आधार पर -

"Already the old indian interpreter's tell us that Indra is a God of thunder-storm, and by the mountains, in which the water was enclosed we are to understand the clouds in

which the demon of drought keeps the water imprisoned most of the Europeans mythologists agreed with this opinion."

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्राचीन भाष्यकारों ने इन्द्र का अर्थ विद्युत् किया है, और वृत्र को राक्षस कहा है, जो अनावृष्टि का दानव कहा जाता है, और जिसने पानी पर्वतों में रोक रखा है। इस अर्थ से कतिपय योरोपीय विद्वान् भी सहमत हैं।

परन्तु आगे फिर आप लिखते हैं कि – प्रौफेसर हिले ब्रेण्ड **(Hille Brandt)** ने इसका अर्थ अन्य प्रकार से किया है। उक्त अर्थों से उनका मतभेद है।

वे लिखते हैं –

"Hille brandt, howevwer tried to prove that Vritra is not a cloud-demon, and not a demon of drought but a winter giant whose power is broken by the sun God Indra, the rivers which are imprisioned by Vritra and set free by Indra, are according to him, not the torrents of rain but the rivers of North West of India which dry up in winter and refilled only when the sun causes the masses of snow of the Himalaya mountain to melt."

ये महाशय यह सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि **"वृत्र"** न तो कोई दानव मेघ है, और न कोई अनावृष्टि का असुर है, किन्तु शरदऋतु है, जिसकी शक्ति को इन्द्र अर्थात् सूर्य ने क्षीण कर दिया है। और नदियों को जो शरदऋतु में बर्फ बनकर जग गयीं, फिर से पिघलाकर प्रवाहित कर दिया है। यही वृत्रासुर संग्राम का आशय है।

इससे यूरोपीय विद्वानों को वेद के विषय में कितना भ्रम तथा व्यामोह है, इस बात का पता लग जाता है।

आगे वे फिर लिखते हैं कि –

"However that may be, it is certain that the Vedic singers themselve had no clear consciousness of the original meaning of Indra and Vritra as nature God."

वैदिक ऋषियों को भी इन्द्र-वृत्र के विषय में कुछ ज्ञान न था कि यह क्या बला है ?

परन्तु ऋषि दयानन्द ने इन बातों पर प्राचीन वेद व्याख्याता यास्कप्रभृतियों के आधार पर पूर्ण प्रकाश डाला है। जो जिज्ञासुओं को ऋषिकृत **"ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका"** में देखना चाहिए, यहां पर विस्तार भय से नहीं दिया जाता। ऋषि के इन चमत्कारपूर्ण अर्थों से प्रभावित होकर ही तो योगीराज अरविन्द महोदय ने मुक्तकण्ठ से ऋषि-भाष्य की प्रशंसा की है –

"In the matter of Vedic interpretation. I am convinced that whatever may be the final complete interpretation Dayananda will be honoured as first discoverer of the right cloud,"

अर्थात् – वेद-भाष्यों के विषय में मेरा पूर्ण विश्वास है कि अन्तिम पूर्व भाष्य कोई भी हो, परन्तु सर्व पूर्व वेदभाष्य के सच्चे मार्ग का प्रदर्शन कराने का श्रेय तो **महर्षि दयानन्द** को ही मिलेगा।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है महर्षि दयानन्द सच्चे अर्थों में **वेदोद्धारक** थे – यह बात बिल्कुल निर्विवाद है।

❑

बुराई तथा भलाई किसे कहते हैं ?

श्री गोपालदास जी बी.ए.
(दिल्ली)

अमुक वस्तु बुरी है और अमुक वस्तु भली है – इसका क्या अर्थ है ? बुराई तथा भलाई का ठीक-ठीक लक्षण करना अत्यन्त दुष्कर है। जिस वस्तु को हम बुरी समझते हैं, उसमें भी कुछ न कुछ कभी भलाई की झलक दीख पड़ेगी, और जिसे हम अत्यन्त विशुद्ध ख़्याल करते हैं, उसमें भी कभी न कभी कुछ कमी अनुभव होने लगेगी। वस्तुतः ये दोनों तत्त्व आपस में मिले-जुले हैं।

"दुःखस्यानन्तरं सुखम्,
सुखस्यानन्तरं दुःखम्"

दुःख के बाद सुख और सुख के पश्चात् दुःख – यह सिद्धान्त सार्वभौमिक है। यदि दुःख और बुराई को तथा सुख और भलाई को पर्यायवाची मान लें, तब बुराई और भलाई के सम्बन्ध में भी वही नियम लागू होगा जो दुःख और सुख के सम्बन्ध में है। इसीलिये दार्शनिक दृष्टिकोण से बुराई और भलाई का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। मानुषी जीवन की सफलता में ये दोनों तत्त्व अपना-अपना भाग रखते हैं।

जो वस्तु एक स्थान पर भली दीख पड़ती हो, यह आवश्यक नहीं कि वह प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक अवस्था में ही भली हो और न ही बुरी वस्तु प्रत्येक स्थान पर बुरी सिद्ध होगी। खीर, घी तथा मिष्ठान्न सब भली वस्तुएं हैं, परन्तु यदि इनका प्रयोग कोई टाईफाईड का रोगी करता है, तब यही वस्तुएं विष का रूप ले लेंगी और अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होंगी। विष को बुरा समझा जाता है, परन्तु दवाईयों में विष का जो प्रयोग किया जाता है, वह हानिकारक नहीं प्रत्युत् लाभदायक है। जो कर्त्तव्य ब्रह्मचारी के लिए वर्जित है, वही कर्त्तव्य गृहस्थी के लिए परमावश्यक समझा गया है। जो कर्त्तव्य अथवा धर्म संन्यासी के लिये आवश्यक समझा गया है, वह गृहस्थी के लिये त्याज्य है। ब्रह्मचारी के लिये वीर्यरक्षा परमधर्म है, परन्तु गृहस्थी के लिये सन्तान उत्पत्ति के लिये अपनी धर्मपत्नी को वीर्य प्रदान करना परमधर्म है। संन्यासी पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा से ऊपर रहे, परन्तु गृहस्थी के लिए ये सब आवश्यक धर्म हैं। इसलिये स्पष्ट है कि जिस वस्तु को हम बुरी अथवा भली ख़्याल करते हैं, वह हमारे उचित अथवा अनुचित प्रयोग पर निर्भर है। वस्तुतः पदार्थ का सदुपयोग तथा दुरुपयोग ही उसे बुरा तथा भला बनाता है।

बुराई का भयानक रूप उस समय अधिक दीख पड़ता है, जब हम उसे अपने जीवन का अंश न समझकर उसे पृथक् देखने का प्रयत्न करते हैं। मृत्यु का रूप उस समय ज़्यादा भयानक दिखलाई देता है, जब हम उसे अपने

जीवन से अलग देखने की कोशिश करते हैं। यदि बचपन, जवानी और बुढ़ापे की तरह उसे भी जीवन का एक अंश समझें, तब मृत्यु इतनी डरावनी और भयानक दिखलाई नहीं देगी, जितनी इस समय हमें दिखलाई दे रही है। सुकरात, ईसा, महर्षि दयानन्द तथा गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों के सम्मुख मृत्यु केवल एक साधारण खेल है। वे मृत्युञ्जय कहलाते थे, क्योंकि उन्होंने उसे भी जीवन का एक अंश समझा हुआ था। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में यथार्थ ही कहा है –

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता 2/13)

हे अर्जुन ! जिस प्रकार इस देह में बचपन, जवानी और बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार मृत्यु भी इस देह का अंश है – इसलिये विद्वान्, धीर उसके आने पर शोक नहीं किया करते।

बुराई को भलाई के रास्ते में रुकावट मत समझो प्रत्युत् उसे भी एक सीढ़ी समझो। दुःख भी सुख के रास्ते में एक आवश्यक पद है, जिसे तय करना अनिवार्य है। जिस प्रकार नदी के दोनों तरफ के किनारे नदी के प्रवाह को तेज़ करने में सहायक हैं, और उसकी गति को मन्द नहीं कर रहे हैं, ठीक इसी प्रकार जीवन रूपी नदी के दोनों ओर के किनारे बुराई तथा भलाई हैं। वे जीवन के प्रवाह की प्रगति को अधिक बढ़ाने में सहायक हो रहे हैं। विज्ञान के किसी तथ्य तक पहुंचने के लिये अनेक असफलताओं तथा अशुद्धियों का सामना करना अनिवार्य है। जिस थ्योरी को हम आज अशुद्ध समझ रहे हैं, वही दस वर्ष पहले शुद्ध समझी जाती थी। इस समय उसकी अशुद्धता हमारे रास्ते में कोई रुकावट नहीं, प्रत्युत् एक सीढ़ी है जिसे तय करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि बच्चे ने चलना सीखना हो, तब कई बार उसके लिये ज़मीन पर गिरना और चोटें खाना एक आवश्यक चीज़ है। बिना बार-बार गिरने तथा चोटें खाने के उसे चलना नहीं आ सकता। निराशावादी ही बुराई तथा भलाई रूपी दोनों तत्त्वों को पृथक्-पृथक् देखने का अभ्यासी है। निराशावादी जीवन को एक विश्राम का स्थान समझता है, उसकी दृष्टि में साहसिक वृत्ति कोई कीमत नहीं रखती। वह ख़तरे तथा हानि से कोसों दूर रहता है। उसके हृदय में कोई उमंग पैदा नहीं होती। दार्शनिक दृष्टि द्वारा यदि देखा जाय तो बुराई केवल अपूर्णता का नाम है। अपूर्णता पूर्णता के अभाव का नाम नहीं, प्रत्युत् पूर्णता को खण्डित अवस्था में देखने का नाम है। वह अपूर्णता अपनी खण्डित अवस्था में पूर्ण है।

"IT is but colpleteness in parts."

हमारी रगें, हमारी आंखें, हमारे कान आदि हमारे शरीर के अभाव का नाम नहीं, प्रत्युत शरीर को खण्डित अवस्था में देखने का नाम है। इसी प्रकार दुःख-सुख के अभाव का नाम नहीं, प्रत्युत् सुख को खण्डित अवस्था में देखने का नाम है। हमारे लिये सामान्यतया बुरी वस्तु वही है जो दुःखदायक है, और भली वस्तु वही है जो सुखदायक है। यदि इसी तराजू से भलाई और बुराई को तोलना हो तो बुराई भी भलाई के

अभाव का नाम नहीं, प्रत्युत् भलाई को खण्डित अवस्था में देखने का नाम है। इसलिये धीर पुरुष बुराई से घबड़ाकर घर से भाग नहीं जाते, प्रत्युत् प्रत्येक बुराई का मुकाबला करते हैं और उसे भलाई के रास्ते में अपना सहायक बना लेते हैं। तब उन्हें निम्न मन्त्र सिद्ध होता है –

"सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ "

(अथर्व0 19/15/6)

सब परिस्थितियां मेरी मित्र बन जायें। हर अवस्था में वे मस्त रहते हैं।

बुराई का भलाई के साथ वही सम्बन्ध है जो वैयक्तिकपन का सार्वभौमिकता के साथ है। मनुष्य के वैयक्तिकपन की उपेक्षा करना भूल है, परन्तु अपने आपको केवल वैयक्तिकपन तक ही सीमित रखना उससे भी ज़्यादा भूल है। सार्वभौमिकता मानुषी जीवन का एक आवश्यक अङ्ग है। जब वैयक्तिकपन का सार्वभौमिकता के साथ एकीकरण हो जाता है, तब जीवन का प्रवाह अधिक तीव्र होता है, और उसी तीव्रता में ही आनन्द की झलक दिखलाई देती है। पहाड़ की सैर का मज़ा उतराव और चढ़ाव दोनों में छुपा हुआ है। यदि पहाड़ में चढ़ाई ही चढ़ाई हो, तब दम उखड़ने का भय रहता है और यदि उतराई ही उतराई हो तब घुटनों में दर्द की सम्भावना रहती है। यदि उतराई और चढ़ाई दोनों साथ-साथ हों, तब पहाड़ में बीस मील तक घूमना भी थकावट पैदा नहीं कर सकता। ठीक इसी तरह जीवन का उतराव और चढ़ाव है। जीवन का रहस्य इन दोनों में निहित है। जीवन वस्तुतः एक संघर्ष, संग्राम तथा युद्ध का नाम है। जिन क्लेशादि को अपने लिये हम हानिकारक समझते हैं, वही हमारे लिये हमारे जीवन को बहुमूल्य वाली वस्तु बना देते हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ठीक कहा है –

"The pain itself becomes a valuable asset. It becomes a measuring rod with which to guage the true value of our joy."

दुःख स्वतः एक कीमती धरोहर है। वह हमारे लिये एक पैमाना है, जिससे हम अपने सुख की कीमत का अन्दाज़ा लगा सकते है। मन्सूर का सूली चढ़ना, ईसा का सलीब पर आरोहण, सिख शहीदों का खुशी-खुशी प्राण त्यागना, महर्षि दयानन्द और सुकरात का विषपान करना, तभी समझ में आ सकता है, जब उपरोक्त तथ्य का भली प्रकार ज्ञान हो जाय।

❐

कौन कर्म अत्यावश्यक ?

शतं विहाय भोक्तव्यं
सहस्रं स्नानमाचरेत्।
लक्षं विहाय दातव्यं
कोटिंत्यक्त्वा हरिंभजेत् ॥

(सुभाषित)

अर्थात् – सौ काम छोड़कर भोजन करना चाहिये। हजारों काम छोड़कर स्नान करना चाहिये। लाखों काम छोड़कर दान के कर्म को अवश्य करना चाहिये, और करोड़ों काम छोड़कर परमात्मा का स्मरण अवश्य करना चाहिये। ❐

आर्य-संस्कृति में नारी का स्थान

पं० शिवकुमार शास्त्री
अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

आर्य-संस्कृति का आदिस्रोत वेद है। वेद स्वयं इसे संसार की प्रथम संस्कृति घोषित करता है। यजुर्वेद में **"सा प्रथमा संस्कृति-र्विश्ववारा:"** अर्थात् समस्त संसार के वरण करने योग्य यह प्रथम संस्कृति है, इसमें नारी का क्या विचार है ? यही इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

इतिहास के असंख्य भीषण जल-प्लावनों के कारण विशुद्ध वैदिक विचारधारा इतनी कलुषित और गदली हो गई है कि एक गवेषक को उसके शुद्ध मूल स्रोत को देखकर आश्चर्य होता है। अर्वाचीन विख्यात विद्वानों के स्त्रियों के सम्बन्ध में तुच्छ और घिनौने विचार देखकर बड़ा कष्ट होता है।

"द्वारं किमेकं नरकस्य नारी"

नरक का मुख्य द्वार नारी है।

विज्ञान महाविज्ञतमोऽस्ति को वा
नार्या पिशाच्या न च वञ्चिता यः ॥

ज्ञानियों में उत्तम ज्ञानी वह है जो दुष्ट स्त्री की छलना से बचा हुआ है।

का शृंखला प्राणभृतां हि नारी ॥

प्राणियों को बन्धन में जकड़ने वाली जंजीर नारी होती है।

विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी ?

नारी विश्वास के योग्य नहीं होती।

किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री ॥

स्त्री अमृत जैसा लगनेवाला विष है।

(आद्य शङ्कराचार्य कृत प्रश्नोत्तरी)

गोस्वामी तुलसीदास जी की दृष्टि में -

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ।
सब विधि अगहु अगाध दुराऊ ॥
निज प्रतिबिंबु बरुकु गहि जाई।
जानि न जाइ नारि गति भाई ॥

(रामचरित० अयो०)

कवि सत्य ही कहते हैं कि स्त्री का स्वभाव सब प्रकार से पकड़ में न आने योग्य अथाह और भेदभरा होता है। अपनी परछाहीं भले ही पकड़ में आ जाय, पर भाई ! स्त्रियों की गति नहीं जानी जाती।

इसी प्रकार रामचरितमानस के लंका काण्ड में नारी के अवगुणों का कथन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं -

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं।
अवगुण अष्ट नारि उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया।
भय अविवेक अशौच अदाया ॥

(रामचरित मानस लंका०)

स्त्रियों में बिना बिचारे काम करना, झूठ बोलना, चपलता, छल-फरेब करना, भीरुता, अविवेक, गन्दा रहना, निर्दयता - ये आठ अवगुण सदा रहते हैं।

इसी प्रकार आर्येतर मतावलम्बियों की भी यह दशा थी। फिजियनलोगों के पास जब रोम सरकार को कर देने के लिए और सामग्री की कमी होती थी, तो वे अपनी पत्नियों को भेज देते थे। बाइबिल में लिखा है कि –

"आदि नारी ईव से रुष्ट होकर ईश्वर ने उससे कहा था कि मैं तेरे दुःखों को बढ़ाऊंगा।"

महात्मा टयुलियान ने कहा है –

"तुम नरक का द्वार हो, नर ईश्वर की प्रतिभा है, तुम उसे नष्ट करती हो।"

ये सब दिग्दर्शनमात्र हैं, अन्यथा अर्वाचीन साहित्य प्रत्येक देश में अधिक मात्रा में ऐसी ही विचारधारा से भरा पड़ा है। किन्तु अब 21वीं शताब्दी का समय फिर बदल रहा है और समझा ये जा रहा है कि स्त्रियों का समाज में जो आदर है, वह इस युग की देन है। किन्तु वैदिक-काल और उसके परवर्ती समय में बहुत समय तक समाज में जो स्त्री का गौरव रहा है, उसकी तुलना में आज की स्थिति नगण्य है। तो देखिये थोड़ी-सी झांकियां :-

ऋग्वेद 10/159 में एक देवी से प्रश्न है कि – **"तुम्हारे समाज में तुम्हारा क्या स्थान है?"** देवी ने गर्व के साथ मस्तक उन्नत करके कहा– **"अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी"** मेरे समाज में मेरा वह स्थान है, जो किसी राष्ट्र में उस झण्डे का होता है। अर्थात् समाज में मुझे ऊंचे से ऊंचा पद दिया जाता है।" दूसरी उपमा शरीर से दी है। **"मेरे राष्ट्र में मेरा वह स्थान है, जो शरीर में सिर का होता है। अर्थात् समाज का नेतृत्व मुझ पर है।"** स्त्री के विषय में ये गौरवपूर्ण विचार अद्वितीय हैं।

वेदाध्ययन से विदित होता है कि स्त्री को पुरुष के समान समस्त अधिकार प्राप्त थे। अथर्ववेद 11/18/5 में स्त्री के वेदाध्ययन का स्पष्ट अधिकार है।

ऋग्वेद 1/3/11 में स्त्री को यज्ञ करने का अधिकार है। अथर्ववेद 11/1/17 में स्त्रियों को यज्ञरूप कहा गया है।

वेद के बाद के साहित्य में भी स्त्रियों के लिए बहुत गौरवमय विचार मिलते हैं। स्त्री को पुरुष के समान ही अधिकार हैं। शतपथ ब्राह्मण 5/2/2/10 में स्पष्ट लिखा है –

"पत्नी पति का आधा भाग है। जब तक पुरुष सपत्नीक नहीं बनता, अधूरा रहता है। जब पत्नी प्राप्त करके सन्तान उत्पन्न करता है, तब वह पूर्ण होता है।"

मनु जी ने अपने धर्मशास्त्र में स्त्रियों का बहुत गौरवपूर्ण स्थान माना है –

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्चगेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन॥

(मनु0 9/26)

स्त्रियां वंश-क्रम को चलाती हैं, ये पूजा के योग्य हैं। ये घर का प्रकाश हैं। वस्तुतः स्त्री और श्री में कोई अन्तर नहीं है।

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

(मनु0 3/62)

स्त्री के प्रसन्न रहने पर सारे घर में चहल-पहल रहती है। स्त्री के उदास होने पर सारा घर उदास हो जाता है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥

(मनु0 3/56)

जहां स्त्रियों का आदर होता है, वहां सभी देवता प्रसन्न रहते हैं और निवास करते हैं, पर जहां इनका निरादर होता है, वहां सब काम बिगड़ जाते हैं।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैताः वर्धते तद्धि सर्वदा॥

(मनु0 3/57)

जहां स्त्रियां दुःखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है, और जहां प्रसन्न रहती हैं, वह फूलता-फलता है।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्या हतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

(मनु0 3/58)

जिन घरों को दुःखी स्त्रियां शाप दे देती हैं, उनका विनाश ऐसे हो जाता है, मानो विष खिलाकर मार दिया गया हो।

रामायण के समय तक भी स्त्री और पुरुष के समान अधिकार थे। राम जब वन से लौटने को तैयार न हुए, तो महर्षि वसिष्ठ ने प्रस्ताव रखा :-

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रह वर्तिमान्।
शात्मेयमिति रामस्य पालविष्याति मेदिनीम्॥

(बाल्मी0 37/24)

सभी गृहस्थियों की पत्नियां उनकी आत्मा के समान होती हैं। हमारी वधू सीता भी राम की आत्मा है। अतः 14 वर्ष तक जब तक श्रीराम वन में रहें, सीता अयोध्या में राजकार्य करे।

इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष के समान स्त्री का भी शासन करने का अधिकार था। नहीं तो वसिष्ठ इस प्रकार का प्रस्ताव नहीं कर सकते थे।

रामायण में वानरजाति में भी स्त्री का बहुत सम्मान था। बाली अपनी पत्नी तारा के विषय में सुग्रीव को कहता है -

सुषेण दुहिता चैयमर्थसूक्ष्म विनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता॥

(बा. कि0 22/13)

यह सुषेण की लड़की तारा पेचीदा से पेचीदा समस्याओं के समाधान में और अनेक प्रकार के उत्पातों को दमन करने में सब प्रकार से निपुण है।

रामायण से यह भी सिद्ध होता है कि राक्षस जाति में भी यह धारणा थी कि पतिव्रता स्त्री के आंसू बड़ी से बड़ी राजसत्ता को नष्ट कर सकते हैं। मन्दोदरी अपने पति महाराज रावण के मरने पर उसके विनाश का विश्लेषण करती हुई कहती है -

पतिव्रतानां नाकस्मात् पतन्त्यश्रूणि भूतले।

(बा0 यु0 111/67)

पतिव्रतायास्तरसा नूनं दग्धोऽसि मे प्रभो॥

(बा0 यु0 111/23)

पतिव्रताओं के आंसू व्यर्थ कभी नहीं जाते। तुम भी पतिव्रता सीता के तप से ही भस्म हुए हो।

स्त्री-जाति के विषय में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण वचन प्राचीन ग्रन्थों में विद्यमान हैं, किन्तु लेख की इयत्ता को देखकर यहां समाप्त करना ही उचित है। ❑

हाय ! तेरा लाल-ख़ून सफ़ेद क्यों हुआ ?

शकुन्तला आर्या
प्रस्तोता (अलीगढ़)

'दो टिकट नागपुर की काट दीजियेगा।' काउंटर के सुराख में से टिकट बाबू, साहिब को देखकर कहने लगा – **"बस चलने वाली है, जाकर बैठ जाइये, वहीं कंडक्टर दे देगा।"**

"थैक्य यू सर" साहिब की जान में जान आई।

मेम साहिबा ने कुली कहकर पुकारा, तो दो-तीन आवारा छोकरे सामाने उठाने के लिए लड़ने लगे और सामान भी अच्छी-खासी गृहस्थी का था।

कण्डक्टर ने सामान ऊपर चढ़ाने का प्रबन्ध कर दिया, बस के अन्दर जब मेम साहिबा घुसीं, तो बस भर चुकी थी। पीछे की सीट पर बैठा एक अनपढ़ गंवार मेम साहिबा को देखकर और भी कौने में दुबक गया।

"कहां बैठूं, कहां बैठूं ?" उतने में साहिब भी अन्दर दाख़िल हुए और बोले – **"सिट डाउन डार्लिंग।"**

"कहां ?" बिहाइन्ड दिस रस्टिक, इस गंवार के पीछे गुस्से से मेम साहिबा चींखीं। बेचारे देहाती आदमी ने सीट खाली कर दी।

जब साहिब और मेम से खाली सीट पर आसन जमाकर चैन की सांस ली कि इतने में कण्डक्टर भी अन्दर आ गया। उसने सवारियों को गिनकर घण्टी बजाने के लिए रस्सी खींची। बस चल पड़ी। तब कण्डक्टर ने टिकट-बुक निकाली और टिकट बनाने लगा। साहिब की जैसे ही उस पर नज़र पड़ी, उनके माथे पर सिलवटें पड़ गईं। मानो दिल का राज़ कुरेदा जा रहा है। **"नहीं-नहीं.., वह कण्डक्टर क्यों होगा ?"** उसके अन्दर ने उसे झकझोर कर कहा – **"देखते नहीं, वही क़द, वही सूरत, वही रंग और वहीं खिला हुआ चेहरा; मेरा अन्दाज़ ग़लत नहीं हो सकता। लेकिन दलील ने फिर भ्रम पर चोट की, वह और कण्डक्टर- यह कैसे ?**

"साहिब एक रुपया बाहर आने दीजिये"। साहिब ने झट उसकी हथेली पर दो रुपये का नोट रख दिया। **"क्या नाम लिख दूं हजूर ?"** कण्डक्टर ने सिर उठाकर उन्हें देखा। साहिब के माथे पर पसीने की बूंदें चमकने लगीं। ज़ल्दी से उसने ख्याल किया, कोई फर्जी नाम बता दूं। मगर ख़्याल आया कि – मेम साहिबा क्या कहेंगी। बड़बड़ाहट में बोल उठा – **"आर. कुमार।"**

कण्डक्टर आवाज़ सुनकर चौंका। नाम लिखकर टिकट फाड़ते हुए बोला – **"हुजूर ! क्या आप जबलपुर के रहने वाले हैं ?"** साहिब का दिल धड़कने लगा। जरूर वही है,

नहीं तो यह जबलपुर का नाम क्यों लेता ? साहिब घबरा उठा। उन्हें बड़े जोर से खांसी आई। स्वास्थ्य ठीक होते हुए भी उनका बुरा हाल हो गया। आंखें भर आईं और कनपटियां लाल हो गईं। मेम ने देखा तो हाथ का रूमाल बढ़ाकर पूछने लगीं – **"व्हॉट इज रांग डियर।"** प्यारे क्या हो गया है ?।

"नथिंग टू वरी, थैंक्स।" कोई चिन्ता की बात नहीं।

"क्या तुम जबलपुर के रहने वाले हो ?" आगे बैठे एक बाबू ने वक़्त काटने के लिए कण्डक्टर से पूछा।

"जी-हां" – आगे निकलकर ज़रा धीमी आवाज़ से बोला।

"अचरज़ लगता है कि इस साहिब की शक्ल-सूरत मेरे छोटे भाई जैसी है।" कण्डक्टर ने कहा।

"तुम्हारा छोटा भाई कहां गया ?" बाबू पूछ बैठा। जवाब में कण्डक्टर मुस्कराते हुए कहने लगा – **"दस-बारह साल की बात है कि एक अंग्रेज पादरी हमारे रम्मू को अपने साथ ले गये।"** साहिब का मुंह खिड़की से बाहर था, मगर उसके कान सब कुछ सुन रहे थे।

वह विचलित हो उठा। बैग से एक रसाला निकालकर उस पर नज़रें डालने लगा। कण्डक्टर कहे जा रहा था, हमारा रम्मू ऐसा ही गोरा-चिट्टा था, बड़ा नटखट था, प्रभु उसे सौ वर्ष की लम्बी आयु दें। फिर साहिब को देखकर मेरी पुरानी यादें जाग उठी हैं। उसे तो कभी भुलाया नहीं जा सकता, ऐसा प्यारा था मेरा रम्मू।

आपको उसका एक मज़ेदार किस्सा सुनाऊं – **"मैं मैट्रिक में पढ़ता था और रम्मू चौथी में पढ़ता था। स्कूल में हम लोग द्रौपदी चीरहरण का ड्रामा खेल रहे थे। मैं द्रौपदी बना और रम्मू दुःशासन। वह छोटा जरूर था, मगर अच्छा- खासा कद वाला था।"**

मैंने उसे रिहर्सल में समझाया कि – **"साड़ी खींचते-खींचते जब हरा कपड़ा आ जाय, तो खींचना बन्द कर देना।"** पुरानी याद आ जाने पर कण्डक्टर हंसने लगा।

हां, तो ड्रामे में हुआ यह कि – **"मैं हरा पेटीकोट पहनना भूल गया। वह दुःशासन बना। मेरे कपड़े खींच-खींच कर ढेर लगा रहा था। उसने आख़िरी साड़ी भी जोर से खींच डाला। बेशुमार मर्द और औरतें देख रहीं थीं। मैं बिल्कुल नंगा होकर झट बैठ गया। फौरन पर्दा गिरा। बहुत शोर मचा। लोग हंस-हंसकर पागल हो गये। मैं झट पर्दे के पीछे भाग गया। ऐसा नटखट था - हमारा रम्मू।"**

यह सुनकर सभी मुसाफिरों ने कहकहा लगाया। मेम साहिबा भी हंस पड़ीं, मगर साहिब अपने अन्दर घुटे जा रहे थे। हालांकि जीवन की वह घड़ियां उनकी याद में लिपट रही थीं, जिन्हें वह बेरुखी से निकाल फैंकना चाहता था। उसका दिल धिक्कार रहा था कि यह तेरा बड़ा भाई नारायण तुझे कितना प्यार करता था। नारायण की नज़रें दूसरी ओर थीं। कुमार साहिब ने उसको फिर बड़े गौर से देखा। दिल ने कहा –

"अरे, उठ, तेरी मां का जाया तेरा बड़ा भाई सामने खड़ा है। तेरा ख़ून सफेद क्यों हो रहा है ?" उसने ख्याल किया कि अब उसकी शक्ल सूरत और सेहत में काफी फर्क आ गया है, लेकिन उसकी आवाज़ और हंसमुख चेहरे पर कोई फर्क नहीं आया। किस्मत का खेल है क्या कण्डक्टरी ही इसकी किस्मत में रह गई थी। तब का आत्माभिमानी नारायण अब किस सफाई से साहिब और हजूर बोलता है। कण्डक्टर कह रहा था - **"मैं अंग्रेजी फर्म में अच्छी पदवी पर था, दो सौ रुपये का वेतन था, जो आजकल दो हजार के बराबर थे। साल में दो बार बोनस मिलता था, फ्री मेडिकल ऐड और फ्री क्वाटर। अंग्रेज चले गये, अंग्रेजी फर्म टूट गई, काफी धक्के खाकर यह कण्डक्टरी हाथ लगी।"**

"कितने बाल-बच्चे हैं ?" बाबू ने पूछा।

"जी, तीन। बड़ी लड़की और दो छोटे लड़के। बेटी बड़ी होशियार है, मैं उसे डाक्टरी कराऊंगा" - यह कहते हुए उसकी आंखों में चमक आ गई।

बस दौड़े जा रही थी। मजदूरों की कॉलोनी के आगे एक छोटा-सा नाला बहता है, उसके अन्दर तंग-सा पुल है। अचानक सात-आठ साल का लड़का गाड़ी के आगे से दौड़कर निकलने लगा। ड्राइवर ने दुर्घटना सामने देखी तो ब्रेक लगा दी। एकदम गाड़ी ने झटका खाया। पिछला पहिया ऐसा फिसला कि अलग जा पड़ा। मोटर-बस तबाजूम खोकर एक तरफ झुक गई। मेम साहिबा का बैग दूर जा गिरा। वह डर के मारे साहिब से चिपट गई। कण्डक्टर ने इसी में अक्लमंदी समझी कि वह कूदकर जान बचा ले। वह कूद पड़ा, उसे पता था कि मौत मुंह खोले उसे अपनी ओर खींच रही है। उसके पैर जम न सके। वह चींखकर नाले में जा गिरा और बस उलटने से बच गई। मुसाफिर बस से उतरे और कण्डक्टर को ऊपर उठा लाये। उसके प्राण पखेरू उड़ चुके थे। लाश बेजान रह गई थी।

यह सब कुछ इतनी जल्दी हुआ कि लोग हैरान हो गए। मुसाफिरों की जुबान पर बद-किस्मत कण्डक्टर की कहानी थी। उनमें कोहराम मचा हुआ था। सिर्फ आर. कुमार चुप था। उसका बड़ा भाई नारायण उसके सामने दम तोड़ गया। वह बड़ा भाई, जिसने मां-बाप का साया उठ जाने पर बड़ी मुसीबतों से उसे पाला-पोसा था। उसकी लाश सामने पड़ी थी। उसे पसीने पर पसीना आ रहा था। भाई की शिनाख्त का मतलब होगा कि उसकी विधवा भाभी और उसके बच्चों को पालना। उसे यह चिन्ता खाये जा रही थी कि मेम साहिब को पता चल गया तो वह क्या कहेगी ? वह डिप्टी सैकेट्री की इकलौती बेटी है, जिसे पाकर दुनियां में सब कुछ आ सकता है। जब उसे पता चलेगा कि मैं छोटे से घराने में पैदा होने वाले कण्डक्टर का भाई हूं, तो वह मुझसे क्या प्यार करेगी ?

कुमार बस से उतर पड़ा, तो ड्राइवर ने कहा कि - **"साहिब ! चन्द मिनट और आप ठहर जायें। हमने पुलिस को फोन कर दिया है। आप पुलिस से दो बातें करेंगे, तो**

हम ग़रीब, मुफ्त की ज़िल्लत से छूट जायेंगे।"

"ठीक है" कुमार ने दबी जुबान से कहा। इतने में सामने रिक्शा पर एक पागल औरत बच्चों के साथ ढांय-ढांय मारती हुई आ रही थी। कुमार समझ गया कि यह कौन है। उसने गौर से बच्चों को देखा जो हड्डियों के ढांचे थे, फटे कपड़े पहने थे। औरत और बच्चों का रोना देखा नहीं जा रहा था, लेकिन कुमार एक तरफ खड़ा यह सब कुछ देख रहा था। पाश्चात्य सभ्यता ने उसकी अन्तरात्मा पर पर्दा डाल रखा था। "नहीं यह नहीं हो सकता, नारायण और मेरा एक घर में जन्म लेना महज इत्तफाक था, वह अब ख़त्म हो गया। अब कौन उसका पाप ढोयेगा। मैं अपने बंगले में इसकी विधवा और दुबले-पतले बच्चों को कैसे रख सकूंगा ?" न जाने क्यों उसके मन को इसमें खोखलापन नज़र आया। उसने झुझलाकर सिगरेट को जोर से ज़मीन पर मारा और उसे मसल दिया। सामने जाती टैक्सी को रोककर सारा सामान उसमें लदवाकर टैक्सी पर चढ़ने लगा, तो उसने आखिरी बार गर्दन घुमाकर फिर एक नज़र लाश की ओर देखा। साथ ही उसके कानों में यह आवाज़ आई - **"तू ग़म न कर भाभी ! नारायण मेरा मुंह-बोला भाई था। मैं आज से तुम सबकी परवरिश करूंगा।"**

यह आवाज़ कुमार की अन्तरात्मा से जा टकराई। उसका दिमाग़ चकरा रहा था। उसके दिल के चोर को टैक्सी भागती हुई अपने साथ ले जा रही थी।

❑

यह कठिन साधना है।

(आनन्द मिश्र 'अभय')

जवानी नहीं, यह कठिन साधना है।
कठिन साधना है, कठिन साधना है॥

जवानी न रंगीनियों में बहकती
जवानी जुही की कली-सी महकती
उठाती अरे यह कदम एक जिस ओर
अछूता नहीं छोड़ती एक भी छोर
कलंकित करो मत इस राग रंग से
अरे त्याग की यह मधुर भावना है
जवानी नहीं, यह कठिन साधना है॥

जवानी न वह जो विचल जाय रण में
जवानी न वह जो फिसल जाये क्षण में
जवानी सदा कंटकों पर विचरती
जवानी खड़ी धार पर नृत्य करती
जवानी अरे ज़िन्दगी की कहानी
जवानी मरण की विजय कामना है
जवानी नहीं, यह कठिन साधना है॥

गले हिमशिला-सी, बन वारिधारा
मिटा दे धरा का तृषा कष्ट सारा
जवानी वही, जो जले दीपिका-सी
जवानी वही, जो बने पुण्य-काशी
नहीं भोग के हेतु मिलती जवानी
यही योग तप और आराधना है
जवानी नहीं, यह कठिन साधना है॥

❑

कर्मशील बनें और स्वस्थ रहें

भारतभूषण चड्ढा
(दिल्ली)

आजादी से पूर्व देश में व्यायाम के प्रति समाज में रुचि थी। जहां पहलवान मालिश करते दिखाई देते थे। कुश्ती का अभ्यास होता था। मेले लगते थे, जिनमें बड़े-बड़े दंगल होते थे। परन्तु धीरे-धीरे प्रचलन कम होता चला गया। कारण – हमने जीवन में व्यायाम के महत्त्व को कम आंकना शुरू कर दिया। हमारी जीवन-शैली में परिवर्तन हो गया है। हमारा जीवन भौतिकता की धुरी पर केन्द्रित हो गया है। हमने मान लिया कि पैसा कमाना ही प्रमुख है। पैसा होगा तो उससे सब सुख-सुविधायें प्राप्त हो जायेंगी। व्यायाम छूट गया, सैर छूट गई। यह नहीं कि हम सैर के महत्त्व को नहीं जानते थे, परन्तु मन में यही ग़लतफहमी घर कर गई थी कि बीमार पड़ेंगे तो डाक्टर की दवाई खा लेंगे। आज भी योग, व्यायाम के प्रचार के बावजूद कितने प्रतिशत लोग हैं, जो जीवन में व्यायाम को महत्त्व देते हैं।

किसी भी बस्ती में आप चले जाईये, एक-दो प्रतिशत से अधिक लोग आपको पार्क में सैर या व्यायाम करते दिखाई मिलेंगे। लोगों को रात देर से सोने की आदत है, देर से खाना खायेंगे। इसका परिणाम क्या है ? आज मोटापा, मधुमेह, रक्तचाप आदि की बीमारी से 30-40% व्यक्ति ग्रस्त मिलेंगे। कैंसर की बीमारी के मरीज भी आपको प्रायः मिल जायेंगे। रोग इतने बढ़ते जा रहे हैं, और 40 वर्ष पार करते-करते अपना प्रभाव दिखाने लगते हैं। अब विश्व में योग के प्रति बढ़ते रुझान से भारत में भी लाभ होगा और लोग योग के प्रति अधिक रुचि लेने लगेंगे। इसमें कोई शक नहीं कि आज चिकित्सा में भी तकनीकी ज्ञान इतना बढ़ गया है कि वह आदमी को जल्दी मरने नहीं देता। परन्तु रोग को ठीक करने के साथ इनके पड़ने वाले साइड इफैक्ट इतने प्रभावी होते हैं कि रोगी इनके मकड़जाल में फंस जाता है। इसलिये ज़्यादा अच्छा यही है कि आदमी रोग को पास ही न आने दे। इसे अंग्रेजी में प्रीवेन्ट-चिकित्सा कहते हैं। पहले से ही स्वास्थ्य-सूत्रों का पालन करें।

हमारे शास्त्रों के अनुसार स्वस्थ रहने के तीन प्रमुख सूत्र हैं – (1) व्यायाम (2) आहार (3) संयमपूर्वक आचरण।

(1) व्यायाम –

व्यायाम अर्थात् शरीर के अङ्गों को गतिशील रखना। आज यदि आपका काम केवल दिनभर कम्प्यूटर के आगे बैठकर टाईप करना है, तो आपके शेष अङ्ग शिथिल हो जायेंगे। उसके लिए आपको नियमित रूप से व्यायाम, सैर, योगासन, प्राणायाम आदि कुछ भी प्रतिदिन एक घंटा करना आवश्यक है। अन्यथा आपके शरीर

के बाकी अङ्ग जाम हो जायेंगे। उनमें लचक नहीं रहेगी तथा उनमें खून का दौरा कम हो जाने के कारण वह रोगी हो जायेंगे।

(2) आहार -

स्वस्थ रहने के लिए दूसरा तत्त्व आहार है। अपने भोजन को नियंत्रित रखना। शास्त्रों में आहार कितना, कैसा और कब करना चाहिये, इसके लिए तीन नियम बताए हैं -

(क) ऋत्भुक्
(ख) हितभुक्
(ग) मितभुक्।

(क) ऋत्भुक् -

प्रथम कारक ऋत्भुक् अर्थात् ऋतु के अनुसार भोजन करना। गर्मी, सर्दी, बरसात सभी मौसमों के लिए आहार-विहार का विधान अलग-अलग है। काश्मीर के लोगों का आहार अलग होगा, दक्षिण का आहार अलग।

(ख) हितभुक् -

दूसरा कारक है - हितभुक्। अर्थात् शरीर के लिए हितकारी भोजन करना। अर्थात् पौष्टिक भोजन करना शरीर के लिए सुपाच्य परन्तु शरीर को शक्ति प्रदान करनेवाला भोजन करना चाहिये। भगवद्गीता में भोजन के तीन प्रकार बताए गए हैं - सात्त्विक, राजस और तामसिक के बारे में विस्तार से लिखा है। यदि आप सात्त्विक भोजन करेंगे, वह बल, बुद्धि, वीर्य को बढ़ानेवाला होगा। कड़वे खट्टे लवणयुक्त अति गर्म, अति तीक्ष्ण भोजन को राजसी कहा है, तथा बासी, अवशिष्ट भोजन को तामसी कहा है। जैसा अन्न खाऐंगे वैसा मन बनेगा। अतः मन पर नियन्त्रण रखने के लिए आहार पर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

(ग) मित् भुक् -

तीसरा तत्त्व है - मित् भुक्। अर्थात् कभी भी भूख से अधिक भोजन न करें। सदा जितनी भूख है, उससे कम ही भोजन करें। इससे आपकी आंतों को उसे पचाने में कठिनाई नहीं होगी। वास्तव में आपने जितना खाया, उससे अधिक आवश्यक है कि आपने कितना पचाया है। खाने के बारे में तीन तत्त्वों का ध्यान रखना आवश्यक है। रोगों को दूर रखने के लिए भोजन के प्रति यह सतर्कता अति आवश्यक है।

(3) संयम -

स्वास्थ्य के लिए तीसरा सूत्र है - संयम। आप अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखें। भोग-विलास के प्रति हमारी कुछ मर्यादाएं हैं, इसीलिये हमारे यहां पतिव्रत और पत्नीव्रत का विधान है। पाश्चात्य-संस्कृति ने हमारे यहां स्वच्छन्दता का एक दूषित विचार-बीज बोया है। प्रचार यह किया गया है कि आप विषयभोग में कण्डोम का प्रयोग करें, अर्थात् आप संयम पर बल न देकर स्वच्छन्दता को प्रश्रय दें। शरीर में बल-बुद्धि-चेतनता आदि के संतुलित रहने के लिए शरीर में रक्त, मज्जा, वीर्य आदि का अनुपात भी ठीक रहना चाहिये। भारतीय संस्कृति के आदिग्रन्थ अथर्ववेद में वीर्य-रक्षा के बारे में कहा गया है -

ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व1राभरत्॥

(अथ0 11/5/19)

अर्थात् – ब्रह्मचर्य के तप से देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की, और उन्होंने परमात्मा के आनन्द रूपी तेज को प्राप्त किया।

अतः अपने आचरण पर संयम रखेंगे अधिक भोगविलास की ओर प्रवृत्त नहीं होंगे, तो स्वस्थ रहेंगे। यजुर्वेद में कहा है –

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ (यजु0 36/24)

अर्थात् – हम इन आंखों से उगते हुए सूर्य का दर्शन करें। हम आंखों से देखते हुए, कानों से सुनते हुए, वाणी से बोलते हुए सौ वर्ष का जीवन व्यतीत करें। यदि इससे भी अधिक आयु हो तो भी हम अदीन होकर ही जीवन व्यतीत करें।

आज की जीवन-शैली में यह बातें अव्यावहारिक लगती हैं। आज की जीवन-शैली में तो लोगों को 60 वर्ष की आयु में सेवा-निवृत्त कर दिया जाता है, और जो सेवाकर्मी अपने को किसी उपयुक्त कार्य में नहीं लगाते, वह शीघ्र ही बूढ़े हो जाते हैं। अतः शरीर, मन और बुद्धि तीनों के लिए आवश्यक है कि अपने को किसी लक्ष्य के समर्पित रखें। कर्महीन व्यक्ति अपने एवं समाज के लिए अनुपयोगी हो जाते हैं। जीने का जब कोई लक्ष्य ही नहीं रह जाता, तो व्यक्ति का ह्रास शुरू हो जाता है। अतः सौ वर्ष तक कर्मठ जीवन जीने के संकल्प के साथ अपना कार्यक्रम प्रामाणिकता से बनायें। आपके जीवन में फिर से आनन्द की लहरें फूटने लगेगी। ❑

कभी हार नहीं होती

(हरिवंशराय बच्चन)

लहरों से डरकर नौका पार नहीं होंती।
कोशिश करनेवालों की कभी हार नहीं होती॥

नन्हीं चींटी जब दाना लेकर चलती है
चढ़ती दीवारों पर सौ बार फिसलती है
मन का विश्वास रगों में साहस भरता है
चढ़कर गिरना गिरकर चढ़ना न उसे अखरता है
आख़िर उसकी मेहनत बेकार नहीं होती
कोशिश करनेवालों की कभी हार नहीं होती
लहरों से डरकर ... ॥ 1 ॥

डुबकियां सिन्धु में गोताखोर लगाता है
जा-जा कर खाली हाथ लौटकर आता है
मिलते नहीं सहज ही मोती गहरे पानी में
बढ़ता दुगना उत्साह, इसी हैरानी में
मुट्ठी उसकी खाली हर बार नहीं होती
कोशिश करनेवालों की कभी हार नहीं होती
लहरों से डरकर ... ॥ 2 ॥

असफलता एक चुनौती है, स्वीकार करो
क्या कमी रह गई देखो और सुधार करो
जबतक न सफल हो नींद-चैन को त्यागो तुम
संघर्ष का मैदान छोड़ कर मत भागो तुम
कुछ किए बिना ही जय-जयकार नहीं होती
कोशिश करनेवालों की कभी हार नहीं होती
लहरों से डरकर ... ॥ 3 ॥

❑

वैदिक संस्कृति में जीवन का स्वरूप

डॉ0 विनोद विद्यालङ्कार
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

जीवन जीने का नाम है और जीना एक कला है। यों तो जीवन शब्द का प्रयोग भाषा में सब के साथ कर दिया जाता है – प्राणी का जीवन, वृक्ष का जीवन, सरिता का जीवन, समुद्र का जीवन, पाषाण का जीवन; पर वस्तुतः जीवन शब्द की सार्थकता मनुष्य के साथ ही है। इतर प्राणियों या जड़ पदार्थों का जीवन एक बनी-बनायी पद्धति पर चलते रहना है, पर मनुष्य अपने जीने की पद्धति का निर्माण स्वयं करता है। वह पद्धति क्या हो ? इसी में जीवन की व्याख्या निहित है।

जीवन एक यज्ञ है –

छान्दोग्य उपनिषद् कहती है कि – मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। यज्ञ के तीन सवन होते हैं – प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायं सवन। मनुष्य-जीवन के प्रथम 24 वर्ष मानो प्रातः सवन हैं, क्योंकि प्रातः सवन का सम्बन्ध गायत्री छन्द से होता है, और गायत्री छन्द में 24 अक्षर होते हैं। जो मनुष्य अपने इन प्रातः सवन रूप 24 वर्षों को यज्ञ-भावना से व्यतीत करने का यत्न करता है, वसु नामक प्राण उसके अधीन हो जाते हैं। जीवन के अगले 44 वर्ष माध्यन्दिन सवन है, क्योंकि इस सवन का सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्द से है, और त्रिष्टुप् छन्द में 44 ही अक्षर होते हैं। जो मनुष्य इन माध्यन्दिन-सवन रूप 44 वर्षों को यज्ञ-भावना से व्यतीत करता है, रुद्र नामक प्राण उसके अधीन हो जाते हैं। जीवन के अगले 48 वर्ष सायं-सवन हैं, क्योंकि इस सवन का सम्बन्ध जगती छन्द से है, और जगती छन्द में 48 ही अक्षर होते हैं। जो मनुष्य इन सायं-सवन रूप 48 वर्षों को यज्ञ-भावना से व्यतीत करता है, आदित्य नामक प्राण उसके अधीन हो जाते हैं। जीवन के इन यज्ञिय सवनों में यदि मनुष्य को कोई आधि-व्याधि सताये, तो वह अपने सम्पूर्ण मनोबल के साथ उसको ललकार कर कहे – **'मेरे यज्ञ को विघ्नित मत करो'** तब वह अवश्य उससे छूट जाता है। इस यज्ञ-भावना से चलने वाला व्यक्ति अपने सात्त्विक जीवन के साथ 116 वर्ष जीवित रह सकता है। उपनिषद् कहती है कि महीदास ऐतरेय ने इनका सफल परीक्षण किया था।

सचमुच वैदिक संस्कृति में मनुष्य का सारा जीवन ही यज्ञमय है। उसके जीवन का आरम्भ जातकर्म संस्कार से होता है, और जीवन की परिसमाप्ति अन्त्येष्टि संस्कार पर होती है। मध्य में नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ एवं संन्यास संस्कार होते हैं। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ रूप

पञ्चयज्ञ का अनुष्ठान उसे प्रतिदिन ही करना होता है। स्मार्त तथा श्रौत यज्ञों से उसका जीवन ग्रथित रहता है। यज्ञ का प्रतीक अग्नि सदा उसके साथ रहता है। यज् धातु के **देवपूजा, सङ्गतिकरण** और **दान** अर्थों के अनुसार स्वार्थ-त्यागपूर्वक परोपकार की भावना से लोकहितार्थ किए जाने वाले महान् कार्य भी यज्ञ कहलाते हैं। वे यज्ञ भी मनुष्य को करणीय होते हैं। मनुष्य का आत्मा यजमान है, मन उसका ब्रह्मा है, प्राण उद्गाता है, वाक् होता है, चक्षु अध्वर्यु है –

"पुरुषो वै यज्ञस्तस्य मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यापः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अङ्गानि होत्राशंसिनः, आत्मा यजमानः ॥" (गो0 ब्रा0 उ0 5/4)

शरीर के अन्दर अवस्थित अन्य शक्तियां इतर ऋत्विजों का कार्य कर रही हैं। परमात्मा ही इस यज्ञ का अग्नि है। उसमें आत्म-समर्पण की हवि दी जाती है। इस अध्यात्म-यज्ञ को करते हुए मनुष्य के आत्मा को ऊर्ध्वारोहण के साथ शाश्वत उत्कर्ष प्राप्त करना पड़ता है।

<u>प्रगति जीवन की धारा है</u> –

मानव-शरीर बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण बहुमूल्य है। जीवन के मूल्यवान् क्षणों को यदि हमने आलस्य, प्रमाद और तन्द्रा में व्यतीत कर दिया, तो हमसे अधिक अभागा और कौन होगा ? हमें तो त्वरित गति से प्रगति करनी है। इसीलिये वेद मनुष्य को उद्बोधन दे रहा है –

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि। आ हि रोहममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥

(अथर्व0 8/1/6)

हे पुरुष ! ध्यान रख, तेरी उन्नति हो, अवनति नहीं। तुझे मैं जीवन और बल दे रहा हूं। तू इस अमृतमय, सुखगामी शरीर-रथ पर आरूढ़ हो, और दीर्घजीवी होता हुआ ज्ञानचर्चा कर।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः। अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(अथर्व0 12/2/26)

राग-द्वेष-मोह आदि के पत्थरों वाली सांसारिक नदी वेग से बह रही है। हे मित्रो ! सब मिलकर उठो, मिलकर उद्यम करो, और इसे पार कर लो।

जो तुम्हारे पास खोटी चालों का बोझ विद्यमान् है, उसे तुम यहीं छोड़ दो। आओ, आधि-व्याधि रहित ऐश्वर्यों को पाने के लिए हम-तुम उस पर पहुंचें।

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह।
राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ॥

(अथर्व0 13/1/34)

हे मनुष्य ! तू आध्यात्मिक उन्नति कर, भौतिक उन्नति कर, आर्थिक उन्नति कर।

शुक्रोसि भ्राजोसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥

(अथर्व0 2/11/5)

हे मनुष्य ! तू शुद्ध है, तेजस्वी है, आनन्दमय है, ज्योतिष्मान् है। श्रेष्ठों तक पहुंच, समकक्षों से आगे बढ़।

जागरूकता जीवन का धन है –

वैदिक संस्कृति का जीवन सतत जागरूक जीवन है। उसमें प्रमाद-आलस्य का कोई स्थान नहीं है। तन्द्रा में पड़े रहना और तामसिकता में आनन्द लेना, मानव की गरिमा के अनुरूप नहीं है।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥

(ऋ0 8/2/18)

जो मनुष्य जागकर यज्ञ-कर्मों में तत्पर होता है, उसी को देवजन चाहते हैं। वे सोनेवाले से प्रीति नहीं करते। देवजन स्वयं अतन्द्रालु होते हैं, अतः वे तन्द्रालु प्रमादी को दण्डित करते हैं।

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति। यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥

(ऋ0 5/44/14)

जो जागता है, उसी से ऋचाएं प्यार करती हैं। जो जागता है, उसी से साम प्यार करते हैं। जो जागता है, उसी का सोमप्रभु सखा बनता है।

दीक्षा जीवन का सम्बल है –

वैदिक जीवन में व्रत-ग्रहण का बहुत महत्त्व है। जब मनुष्य किसी सत्कार्य का व्रत ले लेता है, तब उसके अन्दर उस कार्य का सफलतापूर्वक निर्वाह करने की अपूर्व क्षमता आ जाती है। व्रत-लोप का भय उसे उस शुभ कार्य से विचलित नहीं होने देता। श्रुति कहती है –

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

(यजु0 19/30)

व्रत-ग्रहण से मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है। दीक्षा ले लेने पर कार्यपूर्ति या फलप्राप्ति रूप दक्षिणा मिलती है। दक्षिणा या फल-प्राप्ति से उस कार्य के प्रति अन्य मनुष्यों की भी श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा से मनुष्य सत्य प्राप्त करता है।

अग्नि-समिन्धन की दीक्षा-सी लेता हुआ वैदिक स्तोता उद्गार प्रकट करता है –

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि। व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम् ॥

(यजु0 20/24)

हे व्रतपति अग्नि ! मैं तुझ में समिधा का आधान करता हूं। मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त करके दीक्षित होकर तुझे प्रज्वलित करता हूं।

यह केवल अग्निहोत्र की अग्नि का ही प्रदीपन नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अग्नि-प्रदीपन तथा समिदाधान होता है। अग्नि-प्रदीपन महारम्भ का उपक्रम है। किसी भी महान् कार्य को आरम्भ करना अग्नि-प्रदीपन है, और उसे बढ़ाने के लिए तन-मन या धन अर्पण करना समिदाधान तथा आहुति-प्रदान है।

सत्य जीवन का पाथेय है –

वैदिक संस्कृति का जीवन सत्य से ओतप्रोत है। सत्य की नींव पर ही वैदिक जीवन का भवन खड़ा है। सत्य में मन-वचन और कर्म तीनों का सत्य समाविष्ट है, क्योंकि मनुष्य जैसा मन से विचार करता है, वैसा ही वाणी से बोलता है, और जैसा वाणी से बोलता है, वैसा ही कर्म करता है। यह भूमि सत्य पर ही अवलम्बित है –

सत्येनोत्तभिता भूमिः ॥

(ऋ0 10/85/1)

अतएव वैदिक साधन सत्य का व्रत धारण करता है –

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥

(यजु0 1/5)

हे व्रतपति अग्नि ! मैं व्रत करूंगा। उसे मैं पूर्ण कर सकूं, वह सफल हो। मेरा व्रत यह है कि मैं असत्य को त्याग, सत्य को प्राप्त होता हूं।

सत्याचरण की महिमा श्रुति में इस प्रकार गान की गयी है –

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्-ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥ (ऋ0 4/23/8)

सत्य की शोक-निवारक शक्तियां श्रेष्ठ हैं। सत्य का धारण पाप-तापों को नष्ट करता है। सत्य का उद्बोधक, देदीप्यमान, पवित्र कीर्तिगान बहरे कानों को भी खोल देता है।

अतएव ऋषि की अनुभूति है कि – सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं।

"सत्यमेव जयते नाऽनृतम्"

(मुण्डोपनिषद् 3/1/6)

सत्य ही सच्चा तप है –

ऋतं तपः सत्यं तपः ॥

(तै0 आर0 10/8)

सत्यपूर्वक ही जीवन में सोम का सवन किया जाता है –

ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः ॥

(ऋ0 9/113/2)

सत्य से ही आत्मा के दर्शन होते हैं –

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा ॥(मु0 3/1/5)

आध्यात्मिकता जीवन की प्यास है –

वैदिक मानव आध्यात्मिकता का पिपासु है। जिसने वेदों को पढ़कर भी अक्षरब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया, उसका वेदाध्ययन विशेष अर्थ नहीं रखता –

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ॥

(ऋ0 1/164/39)

वैदिक स्तोता वरुण प्रभु के साथ एक नाव में चढ़कर समुद्र की लहरों में झूलना चाहता है। वह कहता है –

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्। अधि यदपां स्नुभिश्चराव, प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥

(ऋ0 7/88/3)

जब मैं और वरुण प्रभु एक नाव पर बैठते हैं, उस नाव को आनन्द-सागर में ले जाते हैं, और उसकी तरंगों पर चढ़ा-उतार करते हैं, तब झूला झूलने की तृप्ति अनुभव होती है।

वैदिक साधक के लिए आदित्यवर्ण प्रभु का दर्शन एक सुखद् अनुभूति है –

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(यजु0 31/18)

मैंने इस महान् आदित्यवर्ण प्रभु को जान लिया है, अनुभव कर लिया है, जो तमस् से परे है। उसी को जानकर, उसी की अनुभूति पाकर मनुष्य मृत्यु को पार करता है, मृत्यु-संतरण का अन्य कोई पथ नहीं है।

मानव का लक्ष्य है कि वह तामसिकता से ऊपर उठकर आत्मा की उत्तर-ज्योति का

दर्शन करते हुए हमने प्रकाशकों के प्रकाशक सर्वोत्तम ज्योति परमात्म-सूर्य को पा लिया हो।

निष्पापता जीवन की गरिमा है –

वैदिक जीवन में पाप के लिए कोई स्थान नहीं है। पापों से मुक्त रहने के लिए वेदों में शतशः प्रार्थनाएं मिलती हैं। वैदिक स्तोता के इन उद्गारों को पाप-मुक्ति की कैसी आतुरता प्रकट हो रही है –

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः। इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

(अथर्व0 11/6/1)

अग्नि से, वनस्पतियों से, औषधियों से, लताओं से, इन्द्र से, बृहस्पति से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें।

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा। विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

(अथर्व0 11/6/5)

दिन से, रात्रि से, सूर्य से, चन्द्रमा से, सब आदित्यों से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें।

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः। आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

(अथर्व0 11/6/6)

वायु से, पर्जन्य से, अन्तरिक्ष से, सब दिशाओं से हम कहते हैं कि वे हमें पाप से छुड़ायें।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्। समुद्रा नद्योवेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

(अथर्व0 11/6/10)

द्युलोक से, नक्षत्रों से, भूमि से, यक्षों से पर्वतों से, समुद्रों से, नदियों से, सरोवरों से हम यही कामना करते हैं कि वे सब हमें पापों से छुड़ायें वा बचावें।

पाप को ललकारता हुआ वैदिक साधक कह रहा है –

परोऽपेहि मनस्पाप किमशंस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये वृक्षान् वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः॥ (अथर्व0 6/45/1)

रे मन के पाप ! दूर हो जा, क्यों तू मुझे अप्रशस्त परामर्श दे रहा है ? चला जा, मुझे तेरी कामना नहीं है। तू वृक्षों पर और वनों में भटकता फिर, मेरा मन तो गृहकार्यों में और गौओं में लगा हुआ है।

माधुर्य और सौहार्द जीवन का प्रसाद है –

वैदिक संस्कृति में मानव का जीवन मधुमय और सौहार्दमय है। मधु की याचना करता हुआ वह कहता है कि –

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥

(ऋ0 1/90/6, 7)

मुझ सत्यसाधक के लिए वायुएं मधुमय हों, मेघ-सिन्धु मुझ पर मधु बरसाएं, ओषधियां मेरे लिए मधुमती हों।

रात्रियां हमारे लिए मधुमय हों, उषाएं मधुमय हों, पार्थिव-लोक मधुमय हो, पितृतुल्य द्युलोक तथा सूर्य मधुमय हो।

वैदिक स्तोता की कामना है कि –

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥

(अथर्व0 1/34/3)

मेरा घर से बाहर निकलना कर्म करने के लिए दूर-दूर जाना, वापस लौटना सब मधुमय हो। मैं वाणी से मधुमय ही बोलूं, मैं शहद के समान मीठा हो जाऊं।

परिवार तथा समाज में वैदिक जीवन सौहार्दमय तथा पारस्परिक सद्भावनाओं के आदान-प्रदान से भरपूर रहता है। प्रभु का आदेश है कि -

सहृदयं सांमनस्यविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

(अथर्व0 3/30/1)

मैं तुम्हारे अन्दर सहृदयता, सांमनस्य और अविद्वेष की भावना उत्पन्न करता हूं। तुम एक-दूसरे से ऐसा प्रेम करो, जैसा गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है।

अतएव वैदिक स्तोता सौहार्द की याचना करता हुआ कहता है कि -

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः। संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥

(अथर्व0 7/52/1)

अपनों से मेरा सौहार्द हो, अपरिचितों से मेरा सौहार्द हो। हे अश्वी देवो ! तुम मेरे जीवन में सौहार्द की भावना को केन्द्रित कर दो।

तेजस्विता और कीर्ति जीवन की शोभा है -

तेजस्वी और यशस्वी जीवन ही वैदिक जीवन है। वैदिक मानव तेज और यश के प्रतीक अग्नि और सूर्य का आदर्श सदा अपने सम्मुख रखता है -

अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि वर्चस्वानहंमनुष्येषु भूयासम् ॥

(यजु0 8/38)

सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥

(यजु0 8/40)

हे अग्नि ! जैसे तू देवों में वर्चस्वी है, वैसे ही मैं मनुष्यों में वर्चस्वी बनूं। हे सूर्य ! जैसे तू देवों में भ्राजिष्ठ है, वैसे ही मैं मनुष्यों में भ्राजिष्ठ बनूं।

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत। यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥

(अथर्व0 6/39/3)

जैसे सूर्य यशस्वी है, अग्नि यशस्वी है, चन्द्रमा यशस्वी है, वैसे ही अपने जीवन में मैं सब भूतों (प्राणियों) में यशस्वी बनूं।

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या। इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

(अथर्व0 6/38/1)

जो दीप्ति (प्रकाश व तेज) सिंह में, व्याघ्र में, सर्प में, अग्नि में, ब्राह्मण में, सूर्य में है, और जिस दिव्य सुभगा दीप्ति ने इन्द्र को इन्द्रत्व प्रदान किया है, वह दीप्ति ब्रह्मवर्चस से संयुक्त होकर हमें प्राप्त हो।

शान्ति जीवन का रस है -

वैदिक जीवन शान्ति का परमधाम है। ईर्ष्या, द्वेष, कलह और अशान्ति का वातावरण वेद को प्रिय नहीं है। वैदिक स्तोता प्रकृति की एक-एक वस्तु से शान्ति की पुकार करता है -

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु। शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥

(ऋ0 7/35/8)

विस्तीर्ण प्रकाश का दाता सूर्य हमें शान्ति देता हुआ उदित हो। चारों दिशायें हमारे लिए शान्तिदायक हों। अविचल पर्वत हमें शान्ति दें। सिन्धु और नदियां हमें शान्ति दें।

शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तूष॒सो॑ विभा॒तीः। शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु शम्भुः॥

(ऋ0 7/35/10)

रक्षक सवितादेव हमारे लिए शान्तिकर हों, चमकीली दीप्तिवाली उषायें शान्तिकारिणी हों। पर्जन्य शान्तिदायक हो तथा हम प्रजाजनों के लिए जगत् का स्वामी परमेश्वर वा राजा भी शान्तिदायक हो।

शा॒न्तानि॑ पू॒र्वरू॒पाणि॑ शा॒न्तं नो॑ अस्तु कृताकृ॒तम्। शा॒न्तं भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ सर्वं॑मे॒व शम॑स्तु नः॥

(अथर्व0 19/9/2)

हम जो कार्यों की पूर्व योजनायें बनाते हैं, वे शान्ति का अनुसरण करनेवाली हों। हमारे कृत और अकृत कार्य शान्ति का अनुसरण करनेवाले हों। हमारा भूत, वर्तमान, भव्य सब कुछ शान्त हो।

इस प्रकार वैदिक संस्कृति का जीवन यज्ञमय, प्रगतिशील, जागरूक, व्रत-दीक्षित, सत्यमय, आध्यात्मिक, निष्पाप, मधुर, सौहार्दमय, तेजस्वी, यशस्वी और शान्ति का अनुगामी है। वैदिक जीवन की कतिपय अन्य विशेषतायें दानशीलता, कर्मण्यता, आशावाद, तपस्या, ब्रह्म-क्षत्र का समन्वय, आसुरी शक्तियों पर विजय आदि भी हैं, जिनकी प्रेरणा वेद हमें निरन्तर दे रहे हैं। ☐

* शान्ति का उपाय *

आचार्य श्याम

एक बार एक प्रसिद्ध महात्मा एक नगरी में उपदेश कर रहे थे। उनकी विद्वत्ता व सद्ज्ञान की चर्चा धीरे-धीरे नगरी में फैलने लगी। एक दिन मैले-कुचैले वस्त्र पहने हुए एक व्यक्ति महात्मा जी के पास पहुंचा, प्रणाम किया और फिर सामने बैठकर कहने लगा - महाराज ! मुझे कुछ शान्ति का उपाय बतलायें। महात्मा ने कहा - वत्स ! हम आपको शान्ति का उपाय कल बतलायेंगे, आज नहीं। पर जब भी आप मेरे पास आयें, तो स्नानादि करके साफ वस्त्र पहन करके आयें, तब हम तुम्हें शान्ति की प्राप्ति का उपाय कहेंगे। महात्मा जी की बात सुनकर ये व्यक्ति वहां से चला गया, पर मन में एक आवेग-क्रोध था कि शान्ति के उपाय का और मेरे वस्त्रों का क्या तालमेल ? वस्त्र शरीर पर पहने जाते हैं और शान्ति अन्दर की चीज़ है। पर यह व्यक्ति अपनी मनःस्थिति को लज्जावश महात्मा के सामने प्रकट नहीं कर सका।

अगले दिन जब यह व्यक्ति स्नानादि कर, साफ वस्त्र पहनकर महात्मा जी के पास उपदेश ग्रहण करने के लिए आया और अपनी जिज्ञासा प्रकट की, तब महात्मा जी ने कहा - वत्स ! हमने कल इसलिए उपदेश नहीं दिया था कि तुम्हारे शरीर से दुर्गन्ध आ रही थी। तुमने न तो स्नान किया था और न ही साफ वस्त्र पहने थे। याद रखो कि शान्ति अन्दर की चीज़ है, परन्तु बाहर की परिस्थिति का मन-बुद्धि पर सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि आप किसी बगीचे में सुगन्धित पौधों के पास बैठे हों, तो मन में प्रसन्नता होगी, और यदि गन्दगी के पास बैठे हों, तो अप्रसन्नता होगी। जब मन प्रसन्न नहीं होगा, तो उसके आगे के साधनों में मन कैसे गति करेगा, बुद्धि कैसे सद्विचार करेगी ? इसलिए हमारा उपदेश यही है कि पहले बाहर स्वच्छ बनो, फिर मन के स्वच्छ करने का प्रयत्न करो, दूषित विचारों को निकालो, बुरे लोगों अथवा बुरी सङ्गति से दूर रहो, तुम्हें अवश्य ही शान्ति मिलेगी। ☐

विद्यार्थी, स्मृति-वर्द्धन कैसे करें ?

रामस्वरूप 'रक्षक'
अजमेर (राजस्थान)

शिक्षा का सार परीक्षा है। परीक्षा का सार प्राप्ताङ्क है। सभी माता-पिता चाहते हैं कि उनके बच्चों के 100% अंक आवें। इसका सबसे प्रथम साधन है 'स्मृति'। छात्रों को स्मृति अच्छा बनाने के लिए निम्न साधनों का प्रयोग करना चाहिये -

(1) छात्र विद्यालय में 10 मिनट पूर्व पहुंचें, और अपनी आंखों को बन्द करके हथेलियों को ढक लें। फिर बिना आवाज़ किए लम्बी श्वास लें। कमर सीधी रखें, पढ़ते समय मौन बैठें। शिक्षक के आने पर सम्मानपूर्वक अभिवादन करें। जब शिक्षक पढ़ावें तो मात्र उनकी ओर ही ध्यान दें, इधर-उधर न देखें। प्रश्न करने या उत्तर देने के लिए ही मौन खोलें।

(2) मन में सद्भाव रखें। स्त्री-सम्मान, सर्वकल्याण की भावना, व्यवहार में सरलता, दायित्व का निर्वहण मितव्ययता और समय तथा वस्तुओं का सदुपयोग करने की आदत बनावें।

(3) दीर्घ श्वास का अभ्यास करें। सर्वांगासन, हलासन, चक्रासन, मत्स्यासन, पर्वतासन, पद्मासन, करबद्धपद्मासन, कुक्कुटासन, योगमुद्रासन, अर्द्धचक्रासन, पादहस्तासन, शीर्षासन करने का प्रतिदिन अभ्यास बनावें।

(4) सूर्योदय से पूर्व उठकर तांबे के पात्र में रखा हुआ जल पीवें। शौच-स्नानादि क्रियाओं से निवृत्त होकर गायत्री-मन्त्र का कम से कम 108 बार जाप करें। अल्पाहार में गाय का दूध पीवें, तत्पश्चात् अन्य हल्के पदार्थों का सेवन करें। अल्पाहार या भोजन के बाद मूत्र-त्याग करने का नियम अवश्य बनायें। अल्पाहार या भोजन के बाद कुछ समय तक वज्रासन में अवश्य बैठें, इससे पीठ में दर्द होने की संभावना समाप्त हो जाती है।

(5) विद्यालय में जब पढ़ने जायें, तब ध्यान लगाकर पढ़ें, इधर-उधर की बातों में अपने मन को न लगावें। ध्यानपूर्वक पढ़ाई करें। जो पढ़ा या सुना गया है, उसको अपनी स्मृति में बैठाने का प्रयत्न करें।

(6) विद्यालय से जब घर पहुंचें तो यदि थकान है तब दक्षिण में सिर करके शवासन में लेट जायें और दीर्घ-श्वसन क्रिया करें। थोड़ा विश्राम करने के बाद पुनः अपने मन को अध्ययन में लगावें। शिक्षक द्वारा दिया गया गृहकार्य प्रतिदिन समाप्त करके ही विश्राम कक्ष में जायें। सोने से आधा घंटे पूर्व दूध पीवें। तत्पश्चात् पेशाब जाने के बाद दक्षिण में सिर करके बांयी करवट लेटकर सो जायें।

(7) सात्विक आहार का सेवन करें। मद्य-मांस-शराब सिगरेट-तम्बाकू-गुटका-पान आदि का कभी सेवन न करें। ब्रह्मचर्य का पालन, उचित खानपान, दृढ़ संकल्प तथा अपने विषय के प्रति रुचि आदि कार्य स्मरणशक्ति की कार्यक्षमता में वृद्धि करते हैं।

(8) सायंकाल 10 गिरी बादाम, 5-7 कालीमिर्च कांच के पात्र में भिगो दें। प्रातः छिलका उतारकर उसको पीसें और उसमें मिश्री या खांड मिलाकर पीवें। सर्दी की ऋतु में दूध में मिलाकर पीवें अथवा दो तोला घृत गर्म करके उसमें छोंक लगाकर चाट लें, तत्पश्चात् दूध पीवें। यह योग मस्तिष्क के लिए अत्युत्तम है। बादाम का सेवन सीधा मस्तिष्क को बल प्रदान करता है।

(9) सायंकाल बिस्तर पर जाने के पश्चात् प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक के कार्यों का सूक्ष्म निरीक्षण करें। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ाने पर पिछले दिन के कार्यों का चिन्तन भी किया जा सकता है।

❑

सहयोगी-होता बनें

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' (पंजीकृत) दिल्ली राज्य' विगत कई वर्षों से सामाजिक सेवा में संलग्न है। इस सभा के माध्यम से साप्ताहिक नैतिक व धार्मिक कक्षाओं का द्वारका एवं उत्तम नगर क्षेत्र में समायोजन किया जाता है। समय-समय पर बाल चरित्र निर्माण योजना के अन्तर्गत 'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर' 'संस्कृत-संभाषण शिविर' एवं 'योग शिविरों' का भी दिल्ली के विभिन्न-विभिन्न स्थानों पर समायोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त ग़रीब बालक एवं बालिकाओं के लिये आर्थिक सहायता तथा अनाथ-असहाय बच्चों के लिये गुरुकुलीय-शिक्षा का प्रबन्ध भी सभा की ओर से किया जाता है। शीत ऋतु में ग़रीब बच्चों को स्वेटर-इनर, मोजे तथा कम्बल आदि वितरित कर उनकी सहायता की जाती है।

यह सब कार्य आप सबके सहयोग से ही सम्भव है। अतः आप इस ज्ञान-यज्ञ एवं धर्म-यज्ञ में जो भी आहुति प्रदान करना चाहें, वह 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' के नाम से चैक/ड्राफ्ट कार्यालय के पते पर भेज सकते हैं। यदि आप नक़द राशि देना चाहें, तो आप फोन नं0 09350733444 वा 09350233885 पर सूचित करें, आपसे सेवा प्राप्त कर आपको रसीद प्रदान कर दी जायेगी। इसके अतिरिक्त 600 रु0 वार्षिक देकर भी सभा के सहयोगी-होता बन सकते हैं।

आशा है कि आप अपनी पुण्य-कमाई में से 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' का सहयोग कर, जहां सभा के कार्यों को प्रगति प्रदान करेंगे, वहां आप स्वयं भी धर्म-यज्ञ में आहुति देकर पुण्य-लाभ अवश्य प्राप्त करेंगे।

- निवेदक -

परमजीत कौर	वीरेन्द्र शर्मा	तारा शर्मा
(मन्त्रिणी)	(कोषाध्यक्ष)	(प्रधाना)

-: कार्यालय पता :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, द्वारका, नई दिल्ली-59

Email - samvardhini@yahoo.co.in / samvardhini@gmail. com

महर्षि दयानन्द कृत साहित्य के लिये अवश्य देखें -
Website - www. dharmsamvardhini.com

हमारा उद्देश्य

(1) भारतीय योग-पद्धति का प्रचार-प्रसार कर, स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु समय-समय पर योग शिविरों का समायोजन कर, स्वास्थ्य के प्रति जन-मानस को जागरुक करने का अभियान चलाना।

(2) हमारे सभी शास्त्र संस्कृत-भाषा में हैं। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा को कोई स्थान नहीं है, जबकि यह भाषा सभी भाषाओं की जननी तथा विश्व की प्राचीनतम भाषा है। अतः इस भाषा के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा अध्ययन की व्यवस्था करना।

(3) सभी वर्ग के बालक-बालिकाओं के लिए "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर" का आयोजन कर, भारतीय संस्कृति के रूप में परिचय करना; जिससे सभी जन बड़े गौरव के साथ सबके सामने कह सकें - "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववाराः" यही संस्कृति प्राचीन व श्रेष्ठतम है, जो मनुष्य का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम है।

(4) जो बालक-बालिकायें आर्थिक परिस्थितियों के कारण शिक्षा से वञ्चित रह जाते हैं, उन्हें आर्थिक सहयोग करना, ताकि वे शिक्षा को प्राप्त कर, देश के श्रेष्ठ नागरिक बन सकें।

(5) अत्यन्त ग़रीब, विकलांग बालक-बालिकाओं एवं वृद्धजनों के उत्थान एवं स्वास्थ्य के लिए उन्हें आर्थिक सहयोग करना।

(6) वेद, धर्म व यज्ञादि के माध्यम से प्राकृतिक व सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त करना।

(7) धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन कर उन्हें जनमानस तक पहुंचाने का प्रयास करना; जिससे कि सभी मनुष्य सत्साहित्य से अपने विचारों को श्रेष्ठ बनाकर, मानवीयता के सद्गुणों को ग्रहण करने में सक्षम हो सकें।

- कार्यालय -

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए-1/148 बी, मधुविहार, द्वारका, नई दिल्ली-59

दूरभाष - 09811064932, 09350233885, 09350733444

E-mail -Samvardhini@yahoo.co.in

Website - www.dharmsamvardhini.com